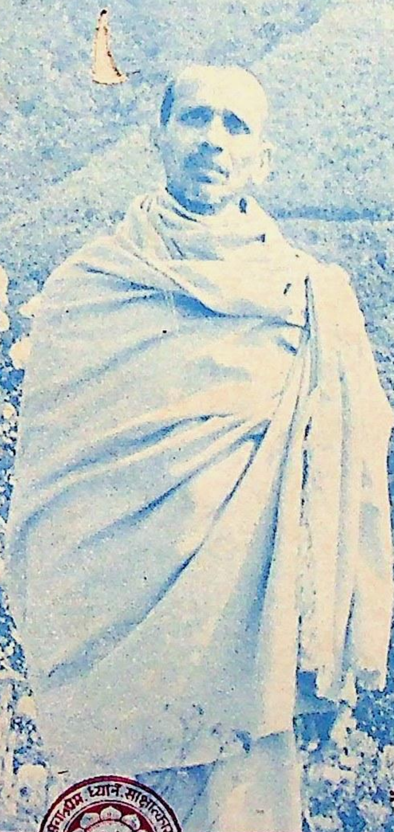


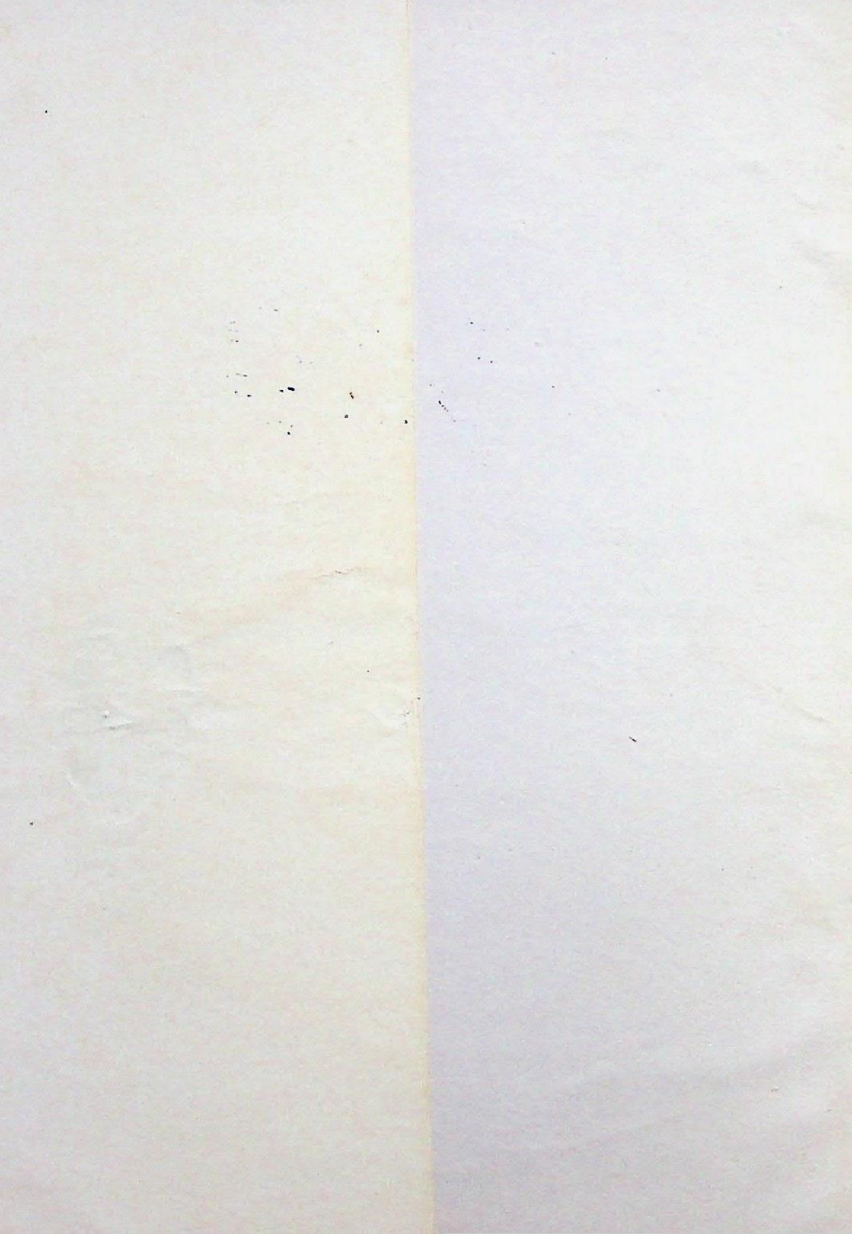
समाज-परिवर्तन के शाश्वत मूल्य

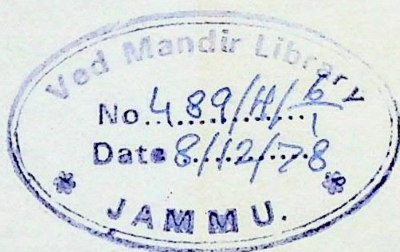


※ स्वामी चिदानन्द



दिव्य जीवन सङ्घ प्रकाशन




Ved Mandir Library
No. 489/11/ 6 / 1
Date 8/12/78
JAMMU.

समाज-परिवर्तन के शाश्वत मूल्य

[जम्मू के प्रवास-काल में दिये गये प्रवचनों का सार-संग्रह]

स्वामी चिदानन्द



सङ्कलनकार तथा सम्पादक :

श्री योगेशचन्द्र बहुगुणा

प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,

पो० शिवानन्दनगर, वाया—ऋषिकेश,

जिला-टिहरी-गढ़वाल (उ०प्र०), हिमालय।

मूल्य] १९७७ [रु० २-५०

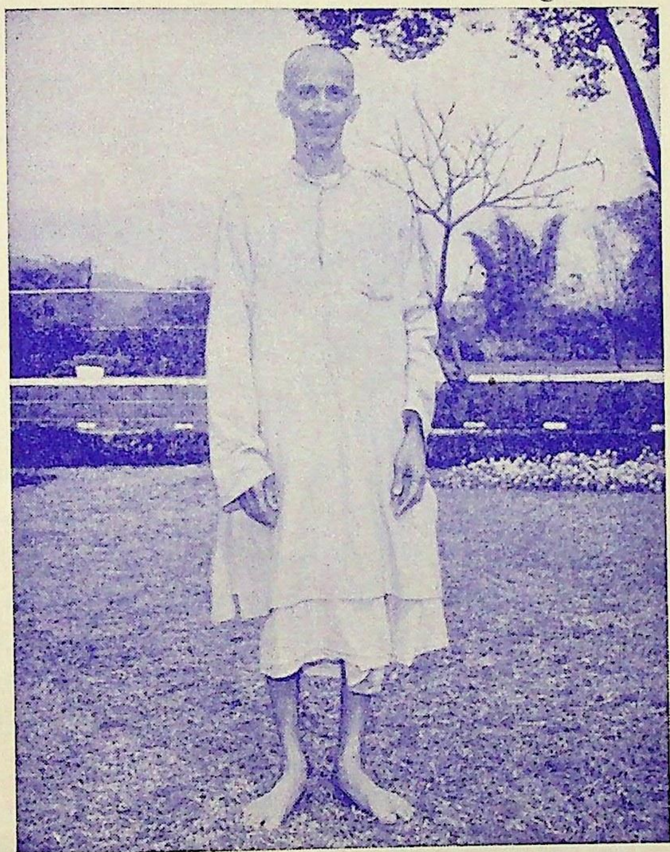
डिवाइन लाइफ सोसायटी के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा प्रकाशित तथा श्री देवेन्द्र विज्ञानी जी द्वारा विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश, जिला देहरादून (उ०प्र०), में मुद्रित।

प्रथम (हिन्दी) संस्करण — १९७७
(२००० प्रतियाँ)

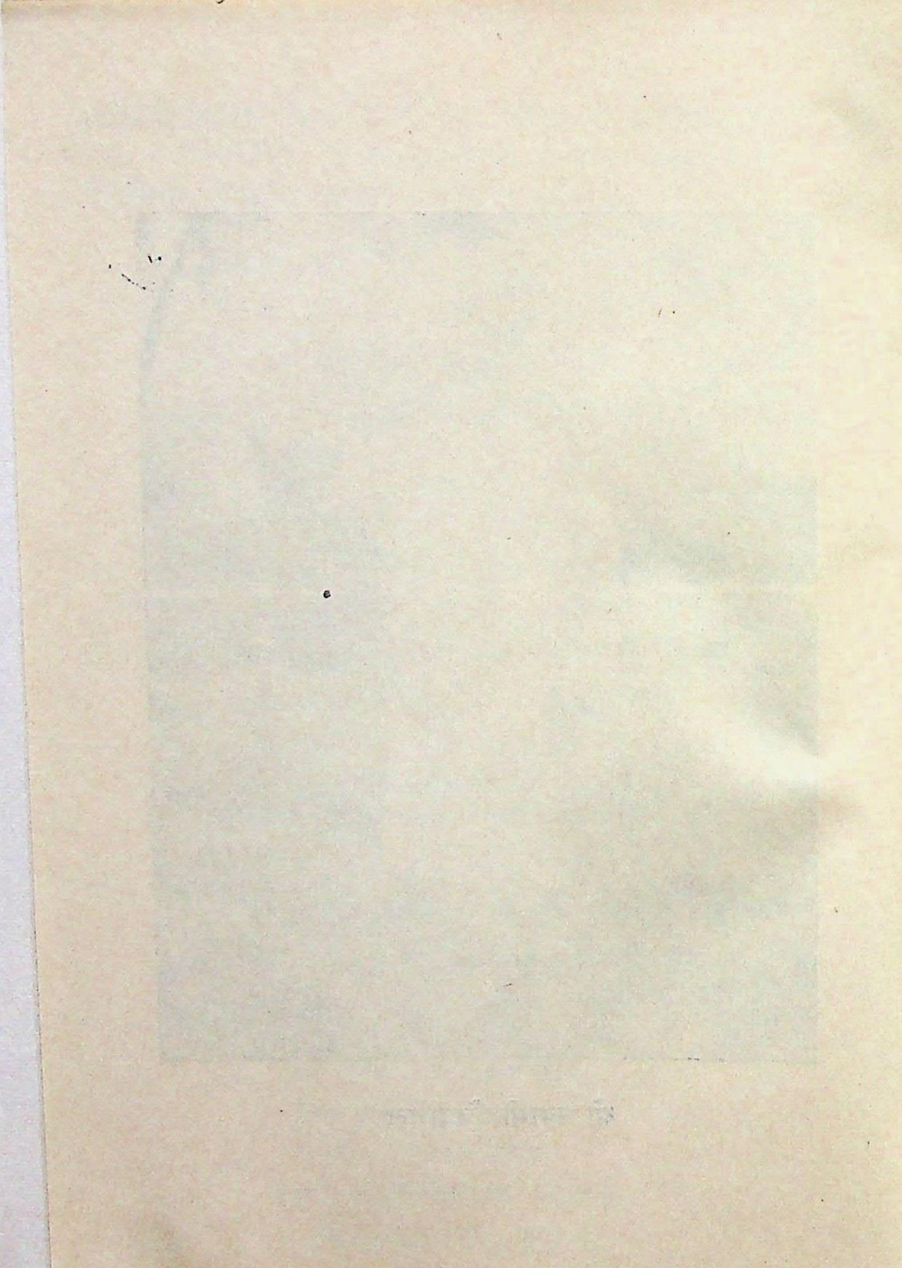
भुवनेश्वर के श्री दुर्लभ चौधरी जी द्वारा
दिव्य जीवन सङ्घ के प्रति की गयी उत्कृष्ट सेवाओं के
उपलक्ष्य में प्रकाशित।

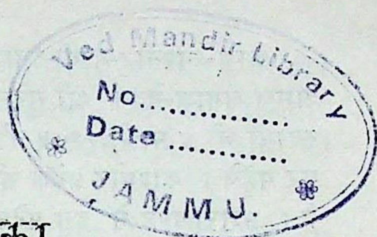
—: प्राप्ति-स्थान :—

शिवानन्द पब्लीकेशन लीग,
डिवाइन लाइफ सोसायटी,
पो० शिवानन्दनगर,
जिला—टिहरी-गढ़वाल (उ०प्र०)
हिमालय। २४९ १९२



श्री स्वामी चिदानन्द





पूर्विका

समाज-सेवा के कार्यों का आधार यदि आध्यात्मिक सरसता और समत्व में न हो तो कर्म के साथ-साथ जीवन में भी एक तरह की यान्त्रिकता का प्रवेश व अधिकार हो जाता है। राष्ट्रपिता बापू ने सेवक और सेवा-साधनों को आध्यात्मिक क्रान्तिकारी स्वरूप अपने जीवनादर्श से दिया। इसी प्रेरणा के प्रबल प्रवाह से हिमालय की उपत्यकाएँ विगत दशकों से सत्य, प्रेम और करुणा पर आधारित सेवा-कार्यों का स्पर्श करती आ रही हैं। उत्तराखण्ड के मद्यनिषेध-आन्दोलन को भक्तिमय हार्दिक सक्रिय आशीर्वाद देते ही पूर्वी विश्व के परम सन्त स्वामी चिदानन्द जी की आध्यात्मिक गरिमा का स्पर्श यहाँ के सेवा-कार्यों के लिए एक ऐश्वर्य बना है। इस आत्मिक संयोग से हिमालय के सेवा-कार्यों को एक नवीन जीवन्तता और सम्बल मिल गया है।

प्रत्यक्ष सेवा-कार्यों में रत सेवकों के आग्रह व निवेदन पर स्वामी जी समय-समय पर हिमालय-क्षेत्र की घाटियों और चोटियों की यात्रा करते हैं। उत्तराखण्ड में रचनात्मक सेवा-कार्यों को उत्कर्ष प्रदान करने की भावना से प्रेरित उनकी इक्कीस दिवसीय तीर्थ-यात्रा को वहाँ के निवासी और लोक-सेवक स्मृति व प्रेरणा का अङ्ग बनाये हुए हैं।

जम्मू-काश्मीर-गांधी-स्मारक-निधि के मन्त्री और वहाँ के प्रमुख समाज-सेवक श्री सुरेन्द्र कुमार बजाज के आग्रह पर स्वामी जी ४ मार्च, १९७५ को जम्मू-काश्मीर प्रदेश की यात्रा पर पहुँचे। काश्मीर प्रदेश भी हिमालय का एक अभिन्न अङ्ग है। उत्तराखण्ड से इस प्रदेश का एक सप्ताह का यह प्रवास स्थावर हिमालय की परिक्रमा करने का ही एक विनम्र प्रयास था।

एक सप्ताह की अवधि में कुष्ठ-रोगियों, वृद्धाश्रम के क्लान्त शरीरधारियों से लेकर विश्वविद्यालय के विद्वज्जनों को पूज्य स्वामी जी के हृदय से प्रस्फुटित भक्ति-कणों और सूक्ष्म, गहन व्यावहारिक वेदान्त की विचारणा का पान करने का अवसर मिला। रामकृष्ण-आश्रम में तो नित्य सायङ्काल को उनका प्रवचन चलता रहा। प्रदेश के समस्त रचनात्मक कार्यकर्त्ता भी स्वामी जी के सान्निध्य में एकत्रित हुए थे और उनकी प्रवृत्तियों को भी नवीन संस्पर्श का आभास हुआ।

मानव-आकांक्षा अध्यात्मनिष्ठ वेदान्ती सन्त से जीवन के पार का सन्देश सुनना चाहती है। जीवन की इहलौकिकता इतनी विद्रूप दिखती है कि इसके शृङ्गार करने की लालसा कुण्ठित हो गयी है। परन्तु इहलोक की गहरी घाटियाँ ही परम शिखरों पर पहुँचने की प्रथम सीढ़ी हैं। इसलिए इस जीवन के अनुग्रहपूर्ण वरण को नकारा नहीं जा सकता। मौजूदा जीवन-व्यवस्था को यदि अध्यात्म के भावों से परिष्कृत किया जाय तो जीवन के परमोद्देश्य की उपलब्धि सन्निकट हो जाती है। इस सन्दर्भ में पूज्य स्वामी जी के प्रवचन श्रवणीय और पठनीय हो जाते हैं। लौकिक विषयों को आत्मिक सम्भावना का स्वरूप प्रदान करना स्वामी जी की भावाभि-

व्यक्ति का वैशिष्ट्य है। जम्मू विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने सम्यक् टिप्पणी करते हुए कहा था : 'मैंने इस प्रकार के प्रथम संन्यासी को सुना है जो गृहस्थाश्रम के विवेचन को इतनी गरिमा प्रदान करता है।'

इस पूरे सप्ताह का स्नेहमय आतिथ्य जम्मू के कोठालिया परिवार ने किया। इतना ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष के उपलक्ष में उनके द्वारा मातृ-सङ्गोष्ठी का आयोजन भी किया गया। बाकी सारे कार्य-क्रमों का संयोजन तो बजाज जी की श्रद्धा, निष्ठा व सजगता के द्वारा ही सम्पन्न हो पाया।

देश और दुनियाँ में समाज-परिवर्तन के विचारों और प्रक्रियाओं को लेकर आज काफी चर्चा है; परन्तु मूल्यों की स्पष्टता के बिना मात्र परिवर्तन का विशेष महत्व नहीं रह जाता है। विगत काल-क्रम से गुजर कर मानव-मनीषा ने कुछ ऐसे मूल्यों को आत्मस्थ कर लिया है जो सापेक्ष न होकर शाश्वत हैं। किसी भी समाज की रचना और उसका रूपान्तरण इन शाश्वत मूल्यों के प्रकाश में ही हो सकता है।

उत्तराखण्ड की इक्कीस दिवसीय यात्रा में दिये गये प्रवचनों का संग्रह 'उत्तर के शैल शिखरों से' पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया था। जम्मू के एक सप्ताह के प्रवास में दिये गये प्रवचनों का संग्रह इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

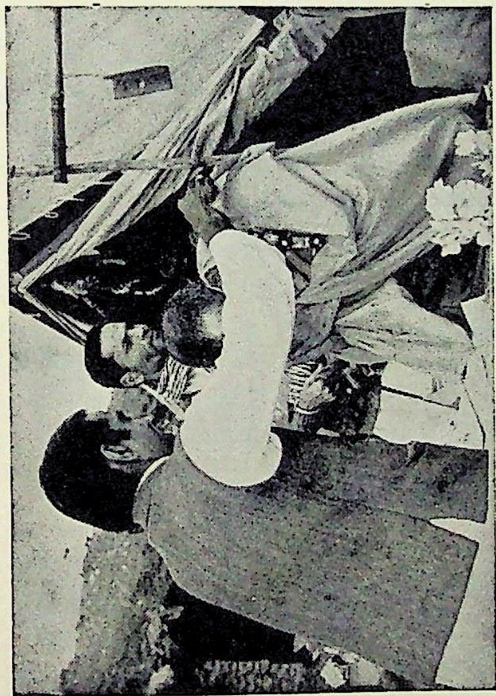
आशा है कि जीवन की गहराइयों में अवगाहन करने वाले भक्त-हृदय व विद्वज्जन इस प्रयास से लाभान्वित होंगे।

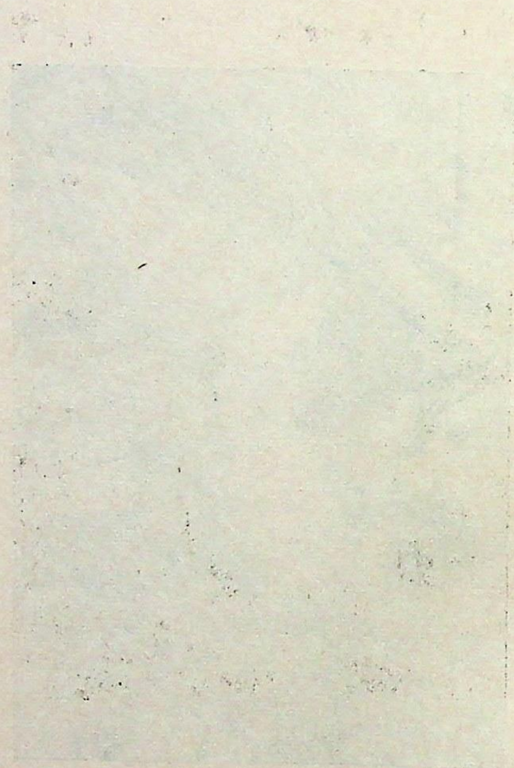
—योगेशचन्द्र बहुगुणा

विषय-सूची

चित्र-परिचय

समाज-परिवर्तन के शाश्वत मूल्य





समाज-परिवर्तन के शाश्वत मूल्य

मैं समाज-विज्ञान तथा मानव-इतिहास का विशेषज्ञ नहीं हूँ, अतः समाज-परिवर्तन के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर अधिकारपूर्वक बोलने की स्थिति में भी नहीं हूँ। फिर भी यद्यपि इस तरह के विषयों पर कई विद्वान् साधु आपके विश्व-विद्यालय में अपने विचार रख चुके हैं, आप मेरे कुछ विचार सुनने के लिए एकत्र हैं तो मैं सामाजिक परिवर्तन के कुछ शाश्वत मूल्यों पर अपने विचार आपके सामने रखूँगा।

सन् १९४३ में जब मैं २५ साल का था, तब मैं परम पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज के आश्रम में आया। इसलिए आधुनिक साहित्य से मेरा परिचय अत्यल्प है; किन्तु मुझे एक ऐसे महान् पुरुष के निकट सम्पर्क में रहने का सौभाग्य मिला है जो स्वयं में इस देश के उत्तम सांस्कृतिक शाश्वत मूल्यों का मूर्त्तिमान् ही था। प्रत्येक देश व समाज के अपने कुछ मूल्य होते हैं जो उसके हजारों-लाखों सालों की कला, संस्कृति, इतिहास, सङ्गीत, कविता तथा रहन-सहन के तौर-तरीकों में प्रकट होते हैं। ये सभी चीजें किसी भी समाज के सांस्कृतिक आकार का निर्माण करती हैं; किन्तु इन सभी बातों के साथ-साथ लोगों की अपनी परम्परा या विरासत के रूप में विकसित एक जीवन-दृष्टि भी होती है।

महान् पुरुषों ने, जिन्होंने गहरे विचार-सागरों में गोते

लगाये हैं, अतीत में ही अनुभव किया कि जीवन एक अटूट सम्पूर्णता है और उन्होंने इसी पूर्णता के सन्दर्भ में इस विश्व का अध्ययन करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्होंने मनुष्य के रूप में अपने तथा समाज के अन्तिम लक्ष्यों का भी अध्ययन-मनन किया और इस क्रम में उन्होंने मनुष्य तथा उसके परिवेश के बारे में ज्ञान का एक निश्चित स्तर प्राप्त किया जिसने इस विश्व के जीवन के बारे में उनके दृष्टिकोण का विकास किया। उन्होंने जीवन के इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की विधि भी बतायी; किन्तु यह ऐसा उद्देश्य है जिसके बारे में प्रत्येक को अपना स्वयं का अनुभव करना होता है। जीवनोद्देश्य के विषय में यह ज्ञान क्या है? बहुत ही कम लोगों ने इस अज्ञात में खोजने का साहस किया। बहुत कम ही यह कर सके। यह देखते हुए उन्होंने मानव-जाति को दिये जाने वाले ज्ञान तथा आने वाली सन्ततियों के लिए निर्धारित प्राप्तव्य में कोई खाई नहीं छोड़ी। उन्होंने लक्ष्य के बारे में एक स्पष्ट तथा निश्चित दिशा बतायी, अपने अनुभव का स्पष्ट-वर्णन किया और इस लक्ष्य की प्राप्ति की उपयोगिता साफ तौर पर बतायी। कोई क्यों इसके लिए प्रयास करे? इसके प्राप्त करने पर क्या फल होता है? उन्होंने इन सबको आपके जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाने की आवश्यकता तथा इसे प्राप्त करने की कुछ निश्चित विधियाँ बतायी हैं। आप इसे 'चेतना के विकास का विज्ञान' कह सकते हैं। इसी से हमारा जीवन-दर्शन तथा विकास-विधि, जिन्हें मिलाकर ही हम महान् लक्ष्य कहकर पुकारते हैं, का निर्माण हुआ। इस ज्ञान को ही ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या कहते हैं।

सत्य का ज्ञान, अन्तिम सत्य की प्राप्ति का विज्ञान तथा

विधि मिलकर ही योगशास्त्र कहलाता है। हम सामाजिक परिवर्तन के शाश्वत मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं; किन्तु मुझे प्रसन्नता होती यदि हमारा विचारणीय विषय 'बदलते समाज' के बदले 'मानव-समाज में शाश्वत मूल्य' होता; क्योंकि थोड़ा-सा भी विचार करने पर पता चलेगा कि यद्यपि मनुष्य के बाहरी रहन-सहन, शासन-प्रणाली आदि में कुछ परिवर्तन हुए हैं और सामाजिक प्राणी होने से इस प्रकार का बदलाव अनिवार्य है; किन्तु फिर भी मनुष्य मनुष्य के रूप में आज भी वैसा ही है जैसा वह आज से पाँच हजार या कहें दस-बीस हजार या लाख वर्ष पूर्व था। भविष्य में भी वह ऐसा ही होगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य के स्वभाव में, उसके अस्तित्व में, उसके सामाजिक सम्बन्धों में ही कुछ ऐसी बातें हैं जो उसके निजी तथा सामूहिक दोनों प्रकार के जीवन में अपरिवर्तनीय हैं और उसका गन्तव्य भी एक ही है और जब तक यह गन्तव्य प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वे मूल्य जो हमें गन्तव्य तक ले जायेंगे, हमारे लिए शाश्वत मूल्य हैं।

मनुष्य के सामूहिक जीवन—सामाजिकता की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि हमारा यह सामूहिक जीवन जङ्गल के नियमों से नहीं चल सकता। सामाजिक जीवन में मनुष्य का पावित्र्य सन्निहित है। इसमें जङ्गल या पशु-जीवन से, जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम काम करता है, जिसमें वह एक-दूसरे का शिकार करके, दूसरे को नष्ट करके ही जीता है, ऊपर उठकर जीना सन्निहित है। यही कारण है कि हमने हिंसा, विनाश के कुदरती दबावों तथा हमला करने व मारने की वृत्तियों को अमान्य किया है। हम यह मानकर चलते हैं कि समाज में मनुष्य मनुष्य के प्रति प्रेम, सौहार्द तथा सद्भाव,

करुणा या मैत्री तथा एक-दूसरे के प्रति उपादेयता की भावना से रह सकते हैं। पशु केवल अपनी ही चिन्ता करता है; किन्तु मनुष्य स्वयं की ही सीमा से परे हट कर दूसरे का ख्याल भी रखता है। वह अपनी आवश्यकताओं का भी विचार करता है। वह सोचता है कि क्या वह स्वयं के जीवन से दूसरों के लिए कल्याणकारी हो सकता है ? इसलिए हमारे पूर्वजों ने यह उपदेश किया कि 'हे मनुष्यो ! तुम्हें यह शरीर परोपकारार्थ और तुम्हारे अन्दर परोपकार करने के, आत्म-कल्याण के मूल्य के विकास के लिए दिया गया है।' यह विधायक उपदेश है। इसका अनुसरण होना चाहिए। इसकी अस्वीकृति के हानिकारक परिणाम होते हैं। इसके विपरीत मूल्यों को नकारना है; क्योंकि वे आप के विकास में भी बाधक होते हैं, अतः वे अपवित्र हैं। विकास मानव-जीवन और मनुष्य के भीतर पूर्णता प्राप्त करने की आकांक्षाओं में सहायक नियम है। यह दृष्टिकोण हमें हमारे पूर्वजों से प्राप्त हुआ है। यह उनका उपदेश है कि परोपकार ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है। इसलिए उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को कहा : 'परोपकारार्थमिदं शरीरं।' इस शरीर की उपादेयता परोपकार में ही है। अतः मनुष्य इस शरीर का उपयोग परोपकार के लिये ही करें; क्योंकि इससे ही कल्याण होगा। ऐसा न करने से तुम्हें भी दुःख होगा। अतः कोई काम ऐसा न करें जो दुःखमय हो। यही तत्त्व मनुष्य के आगे व्यक्तिगत व सामूहिक रूप में रखा गया है। इस तत्त्व के ज्ञान के बल पर ही लोग इस परिणाम पर आये कि मनुष्य ही नहीं, प्राणी-मात्र ही इस संसार में दुःख तथा पीड़ा से मुक्त होना चाहते हैं और वे सुख तथा आनन्द के प्रत्येक आधार के प्रति

आकर्षित होते हैं। मनुष्यसहित प्रत्येक प्राणी की यही एकमात्र खोज है और इस खोज का साक्षात्कार ही शाश्वत मूल्य है। इसके विपरीत मनुष्य की इस अत्यन्त मूल इच्छा से परे ले जाने वाली कोई बात इस शाश्वत मूल्य को अस्वीकार करती है।

अन्तिम मूल्य क्या है? वह हर तत्त्व, जिसे जीने योग्य, प्राप्त करने योग्य माना जाय, मूल्य है। इसके लिए हम समय लगाते हैं; क्योंकि इसे हम चाहते हैं; क्योंकि यही मनुष्य के अन्तिम सुख तथा इस संसार में सभी मनुष्यों की खोज की पूर्णता का आधार है। यह शाश्वत है अर्थात् इसका सम्बन्ध केवल एक देश या काल के लिए ही न होकर सार्वदेशिक या सार्वकालिक है। यह केवल एक अस्थायी तत्त्व न होकर एक स्थायी तत्त्व है। इससे इसकी सब के लिये सब समयों में उपादेयता है।

इस प्रकार से मनुष्य 'एकम् भूयात्' की वैश्विक खोज लेकर आया है। कोई दुःख न हो, कोई पीड़ा न हो, सर्वत्र सुख व कल्याण हो—यह भावना मनुष्य के अन्त तक उसके साथ रहेगी। इसलिए बाहरी परिवेशों में चाहे जो भी परिवर्तन हो, मनुष्य की सुखेच्छा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह सुखेच्छा उसके साथ आदिम जीवन से लेकर आज तक है और आगे भी उसके साथ रहेगी।

आज विज्ञान की प्रगति के कारण मनुष्य ने प्रकृति की कुछ शक्तियों पर कुछ काबू पाया है, किन्तु क्या इससे मनुष्य का परोपकार करने तथा सुख देने में कोई सहायता होगी? हमारे महान् पुरुषों ने इसके उत्तर में स्पष्ट कहा है कि इससे कोई मदद नहीं होगी। इसके कई कारण हैं।

मनुष्य तीन प्रकार की पीड़ाओं से ग्रस्त है। प्राकृतिक आपदाओं, बाढ़, सूखा, अनावृष्टि, आगजनी, गर्मी, ठण्ड, तूफान, भूकम्प आदि से पैदा होने वाली विपदाएँ उसे निरन्तर घेरे रहती हैं। ये सब आधिदैविक कोप कहे जाते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार की बीमारियों, कीड़ों, चूहों तथा जङ्गली पशुओं से, जो उसे तथा उसकी फसल को हमेशा हानि पहुँचाते रहते हैं, पीड़ा-ग्रस्त रहता है। इन सबके विरुद्ध मनुष्य को सदा सावधान रहना होता है। इनसे अपनी तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा की चिन्ता में वह डूबा रहता है। यह सब आधिभौतिक आपदाएँ हैं। हम इन दो आपदाओं से बराबर दुःखी रहते हैं और हमारे लाखों प्रयत्नों के बाद भी इन पर हमारा अधिकार नहीं हो पाता है।

किन्तु एक तीसरे प्रकार की पीड़ा भी मनुष्य भोग रहा है। वह उसके भीतर से पैदा होती है। इसे वे आध्यात्मिक पीड़ा कहते हैं। आत्मा का अर्थ है हमारा स्वत्व। यह हमारे में से ही उद्भूत होता है। हमारी अनेक प्रकार की इच्छाएँ, तृष्णाएँ, चिन्ताएँ आदि से हमें हमेशा अनेक प्रकार के डर तथा भय, घृणा या प्रेम से उत्पन्न भय तथा चिन्ताजन्य तनाव, द्वेष तथा निराशा से उत्पन्न तनाव, लालच तथा लोभ से उत्पन्न भय, चिन्ता आदि से हम बराबर पीड़ा पा रहे हैं। ये सब हमारे मन के विकार हैं। इनसे हम जितना ही छूटना चाहते हैं, वे उतना ही अधिक हमें घेरते रहते हैं और इस कारण हम बराबर एक प्रकार की बेचैनी में जी रहे हैं। इनके कारण सारे भौतिक सुख-साधनों के होते हुए भी हम अशान्ति से उत्पन्न पीड़ा झेल रहे हैं।

अब जहाँ निरन्तर अशान्ति हो वहाँ सुख कहाँ से हो

सकता है ? जहाँ इच्छाएँ, वासनाएँ हैं वहाँ अशान्ति और दुःख है। हमारे पूर्वजों ने अनुभव करके देखा कि हम इन इच्छाओं और वासनाओं को पूरा करने में जितने प्रयत्न करते चले जाते हैं, वे भी उतनी अधिक बढ़ती चली जाती हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि इन्हें बढ़ाते जाने के स्थान में इनका दमन करना ही इनसे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है।

जैसे घी डालते रहने से आग और अधिक भड़कती जाती है, उसी प्रकार वासनाओं व इच्छाओं की पूर्त्ति से भी वे शान्त होने के स्थान में अधिक बढ़ती हैं। इस प्रकार वे तृप्ति के लिए मनुष्य पर बराबर दबाव बनाये रखती हैं और अन्त में मनुष्य उनका दास बन जाता है। इस तरह से मनुष्य भीतर से बराबर अशान्त बना रह कर मानसिक तनाव का शिकार रहता है। ऐसा मनुष्य आध्यात्मिक पीड़ा से ग्रस्त रहता है। केवल दृढ़ मन से इनसे दूर रहना ही इनसे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। इसे प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोबल से कर सकता है। अपने सतत आन्तरिक शिक्षण से ही हम यह मनोबल प्राप्त कर सकते हैं। यही हमारे लिए शाश्वत मूल्य है और यही मानव-जीवन का औचित्य है। यदि समाज में इस प्रकार के मनोबल से युक्त मनुष्यों का, जिनका अपने पर अधिकार है, बाहुल्य होगा तो समाज भी सुखी होगा। इसके विपरीत अपनी वासनाओं व इच्छाओं के दास मनुष्य यदि समाज में अधिक होंगे तो वे सारे समाज को भी दुःखी करेंगे। ऐसा समाज कभी भी प्रगति नहीं कर सकता; क्योंकि दास-मन से कभी भी मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता है।

किन्तु आज सारे संसार का, और मुझे कहते हुए दुःख है,

हमारे देश का भी यही चित्र है। आज हम संयम के उस महान् मूल्य को जो हमारे पूर्वजों ने हमें दिया था, भूल गये हैं। 'मनोजितं येन तेन जगत् जितम्'—जिसने मन जीता उसने संसार को जीत लिया—इस पुरानी कहावत को हम सब भूल गये। मन की जीत ही सब से बड़ी जीत है। सब से बड़ी विजय कौन-सी है? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था: 'भिक्षुओ! किसी बड़े राज्य या विशाल सेनाओं की विजय वास्तविक विजय नहीं है। तुम्हारे अपने मन पर विजय ही सबसे बड़ी विजय है। वासना तथा इच्छा पर विजय ही सबसे बड़ी विजय है। भिक्षुओ! विजय का यही अर्थ है।' मन पर अधिकार-प्राप्त मनुष्य ही वास्तव में मानव-समाज की बहुमूल्य निधि है जो सदा दूसरों की प्रेरणा का आधार रहता है।

प्लेटो की रिपब्लिक का भी यही ध्येय था। मनुष्य का हमारा दृष्टिकोण भी यही है। जो मनुष्य स्वयं पर अधिकार कर पाया है, वही सच्चा वीर है। यही हमारे देश की दृष्टि है। शास्त्रों में महान् व्यक्ति का लक्षण ही 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय च' कहा गया है। ऐसे ही लोग सब के हितार्थ कार्यरत रहते हैं। अतः जब तक जीवित हो, सब के भले की बात सोचो व करो और इसके लिए आप का शरीर व मन दोनों स्वस्थ होने चाहिए। स्वस्थ शरीर भी एक महान् मूल्य है। यह कोई ऊँचे दर्शन की बात नहीं है; बल्कि व्यावहारिकता है। उत्तम स्वास्थ्य रहने पर ही हम इस जीवन में तथा इसके बाद भी कुछ करने की आशा कर सकते हैं। कहावत है कि 'स्वस्थ शरीर ही स्वस्थ मन का घर है।' यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने विश्व तथा जीवन के ऊँचे दर्शनों पर विचार

करते हुए स्वास्थ्य के विषय में महान् ज्ञान प्रदान किया और इस ज्ञान को उन्होंने वेद की श्रेणी में रखा। कब खाओ, क्या खाओ, कितना खाओ, क्या सोचो, कैसे सोचो आदि बातें, जिन पर हमारा स्वास्थ्य निर्भर करता है, विस्तार से बतायी गयी हैं। किन्तु हम लोग खान-पान के उन नियमों का पालन नहीं करते; क्योंकि हमारा अपने मन पर अधिकार नहीं है।

स्वास्थ्य सब के लिए, चाहे वह कम्युनिस्ट हो, पूँजीवादी हो, पौर्वात्य हो या पाश्चात्य जो भी हो, आवश्यक है। उसे अपने लिए तथा समाज का हित करना हो तो उसके लिए भी स्वस्थ रहना पहली शर्त्त है। शरीर स्वस्थ नहीं तो अपना या समाज का किसी का भी उपकार नहीं हो सकता।

अन्ततः मनुष्य के जीवन का तात्पर्य क्या है ? इस का उत्तर हमारे पूर्वजों ने दो तरह से दिया है—अभ्युदय और निःश्रेयस। निःश्रेयस का अर्थ है प्राणिमात्र का भला और अभ्युदय का अर्थ है सर्व-कल्याण के लिए अपने व्यक्तित्व को उन्नत तथा उपयुक्त बनाना। व्यक्तित्व का अभ्युदय अकेले व्यक्ति की दृष्टि से नहीं, समाज के अङ्गभूत की दृष्टि से हो, यही वास्तविक बात है। हम कौन हैं, क्या हैं, इस प्रश्न पर इस सन्दर्भ में हमारी संस्कृति में बहुत जोर दिया गया है। हम निजी जीवन में वाइस-चांसलर, प्रिन्सिपल, प्राध्यापक या छात्र, पति-पत्नी कुछ भी हों; हमारे समाज के अङ्गभूत और तत्त्व की दृष्टि से ही इन सभी सम्बन्धों का भी महत्व है; अन्यथा ये सब निरर्थक हैं। वास्तव में अन्तिम सत्य की दृष्टि से यह सब कुछ वैसा ही भ्रम है जैसे कि एक नाटक में किसी

हनुमान् या साइलाक* का पार्ट करने वाला व्यक्ति नाटक में अपनी भूमिका समाप्त हो जाने के बाद यह कहे कि वह तो किष्किन्धा या लन्दन में रहने वाला हनुमान् या साइलाक है और उसका यहाँ वर्त्तमान् में किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे व्यक्ति को तो लोग पागलखाने ही भेजेंगे; क्योंकि वह तो नाटक की अपनी क्षणिक भूमिका से पहले या बाद की अपनी वास्तविक भूमिका से बेखबर है। हम सब भी आज अपने पूर्व या भावी जन्म की भूमिका से बेखबर हैं। माँ के गर्भ में आने से पूर्व तक हम क्या थे, कोई जानता है ? वैसे ही, हमारा इस शरीर में रहने पर नाटक कब समाप्त हो जायगा, कोई नहीं जानता। हमारी भूमिका समाप्त होने पर परदा गिर जायगा और दूसरे पात्र फिर मञ्च पर आ जायेंगे। इन सब पर हमारा कोई भी अधिकार नहीं है। हम तो अपना निर्धारित पार्ट अदा करने आये हैं। उसके बाद हमें जाना ही होगा, इसलिए हमारी वास्तविक भूमिका तो नाटक से पूर्व व पश्चात् की भूमिका है जिसे हमें जानना है। हमें जानना है कि हम यह शरीर नहीं है वरन् दिव्यात्मा हैं जो तात्कालिक नाटक में अपनी भूमिका के सन्दर्भ में मञ्च पर दिखायी दे रहे हैं। जीवात्मा के अतिरिक्त हम और कोई नहीं हैं। अतः तेरा-मेरा का यहाँ का हमारा सारा झगड़ा निरर्थक है और अन्तिम सत्य ही सही है। अतः हमें इस शरीर-जन्य भ्रान्ति से तो मुक्त होना ही है।

हमें जानना होगा कि हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? क्यों आये हैं ? यह ज्ञान केवल हम मानव-शरीरधारी ही

*शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' नाटक का एक पात्र।

प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि बुद्धि तथा मन के रूप में केवल हमें ही परमात्मा ने इस तरह की जिज्ञासा की शक्ति प्रदान की है। इस शक्ति के बल पर हम आत्म-ज्ञान प्राप्त करें। यही निः-श्रेयस है। यही हमारा प्राप्तव्य है। इससे आप समस्त पदार्थिक जीवन से मुक्त हो जायेंगे और उस महान् अन्तिम सत्य से, जिसे ऋषि सत् के नाम से जानते हैं—सत् क्योंकि केवल असल में उसी का एकमात्र अस्तित्व है—आपका सम्बन्ध जुड़ेगा। आप परमात्मा को पायेंगे—वह परमात्मा जो परिपूर्ण तत्त्व है, जिसमें कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती और जो अनारम्भ व अनन्त है। यही वास्तविक सत्य है जिसे आपको प्राप्त करना है और यही मनुष्य-शरीर का वास्तविक उद्दिष्ट है। हम सब उसी विराट् के अंश हैं—उस महान् के जो सत्-चित्-आनन्दमय है। इसी को ब्रह्म कहते हैं।

इस प्रकार हमारे पूर्वजों ने हमें कुछ बड़े मूल्य दिये। सत् की खोज करो, वही असली लक्ष्य है। वही जीवन का उद्देश्य है। इस शरीर में रहकर हम जो भी करें, वह इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए करें। इस खोज में हम निर्भय होकर सब प्रकार के कष्टों को सहन करें। सुख-दुःख की स्थिति से ऊपर उठ कर सर्व-दुःख निवृत्ति या परमानन्द-प्राप्ति करने का प्रयास करें। इसी से हम भय-मुक्त व बन्धन-मुक्त होंगे जिसे वे कैवल्य, मोक्ष या निर्वाण कहते हैं। आत्म-ज्ञान भी यही है। यही हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है। इसलिए हमारे सारे कार्य इसी सिद्धि के हेतु हैं और इसके लिए हमें शरीर व मन दोनों को हमेशा ही स्वस्थ व स्वच्छ रखना होगा। समाज में चाहे जो भी परि-वर्तन हों; किन्तु स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के मूल्य का महत्व कभी कम नहीं है। संयम हमारे लिए द्वितीय मूल्य है। संयम

से हमारे अस्तित्व की भी रक्षा होगी व लक्ष्य-प्राप्ति भी होगी; अन्यथा हम बरबाद हो जायेंगे। अतः संयम, आत्म-नियन्त्रण या ब्रह्मचर्य के मूल्य का शाश्वत महत्व है। इस पर किसी भी प्रकार के परिवर्तन का कोई असर नहीं पड़ता। ब्रह्मचर्य का अर्थ है एक निश्चित अवधि व सीमा के भीतर सन्तानोत्पत्ति के अलावा वीर्य की, जो कि परमात्मा की दी हुई शक्ति है, हमें रक्षा करनी ही होगी। इसी दृष्टि से सन्तानोत्पादन धर्म-कार्य कहा गया है; किन्तु केवल इन्द्रिय-सुख के लिए निर्बाध भोग में पड़े रहना तो अधर्म है और हर प्रकार से हानिकर ही है। अतः ब्रह्मचर्य व सदाचार का पालन करो।

प्यारे मित्रों! प्राचीनों के इस आवाहन पर उठो, खड़े होओ, अपने असल रूप को पहचानो और जीवन को सोद्देश्य बनाने का प्रयास करो। परमात्मा आपकी मदद करेगा।

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

[जम्मू विश्वविद्यालय के प्रवक्ताओं की गोष्ठी में दिया गया प्रवचन]

मानव का परम लक्ष्य

योग-साधना, अध्यात्म जीवन, ईश्वरोपासना, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति—ये जो बातें हैं, इन बातों से डरना नहीं चाहिए। 'यह कोई विचित्र-सी चीज है' ऐसा कोई विचार नहीं रखना चाहिए। 'इन बातों से हमारा क्या मतलब है', ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए। 'ये बातें जो योगियों के लिए हैं, स्वामी लोगों के लिए हैं, हमारा इन बातों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है', इस तरह का ख्याल नहीं करना चाहिए। हमारी संस्कृति में मानव, यह जगत् और इनका जो आदि-मूल है, प्रथम कारण है, इसके बारे में खोज करते हुए इतिहास के पूर्व, प्राचीन समय में भारतवर्ष ने कई पीढ़ियों तक इस काम में लग के एक ऐसा उज्ज्वल समय को प्राप्त किया जब उनको इन सब बातों के अन्दर का रहस्य स्पष्ट हो गया। खोज की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर उन्होंने ज्ञान की ज्योति पायी है। ज्ञानोदय हुआ, पूछने के लिए कोई सवाल बाकी नहीं रह गया। सर्व संशय उनके दूर हो गये और उनको सत्य का अनुभव हो गया। मनुष्य क्या है, मानवता क्या है, इन सब चीजों का ज्ञान प्राप्त करके वे इस नतीजे पर पहुँचे कि मानव दिव्य परिपूर्णता के लिए इस जगत् में आया है। मानव की जो अन्तिम मञ्जिल है, वह दिव्य परिपूर्णता (Divine perfection) है। यह परिपूर्ण ज्ञान, आजादी का अनुभव मानव के शारो-

रिक तथा प्रापञ्चिक दोषों से निवृत्त होकर प्राप्त किया जा सकता है। यही आदमी का परम लक्ष्य है। गौण लक्ष्य तो बहुत हैं; परन्तु परम लक्ष्य दिव्य अनुभूति है और उसी के लिए जीवात्मा को यह मानव-शरीर मिला है।

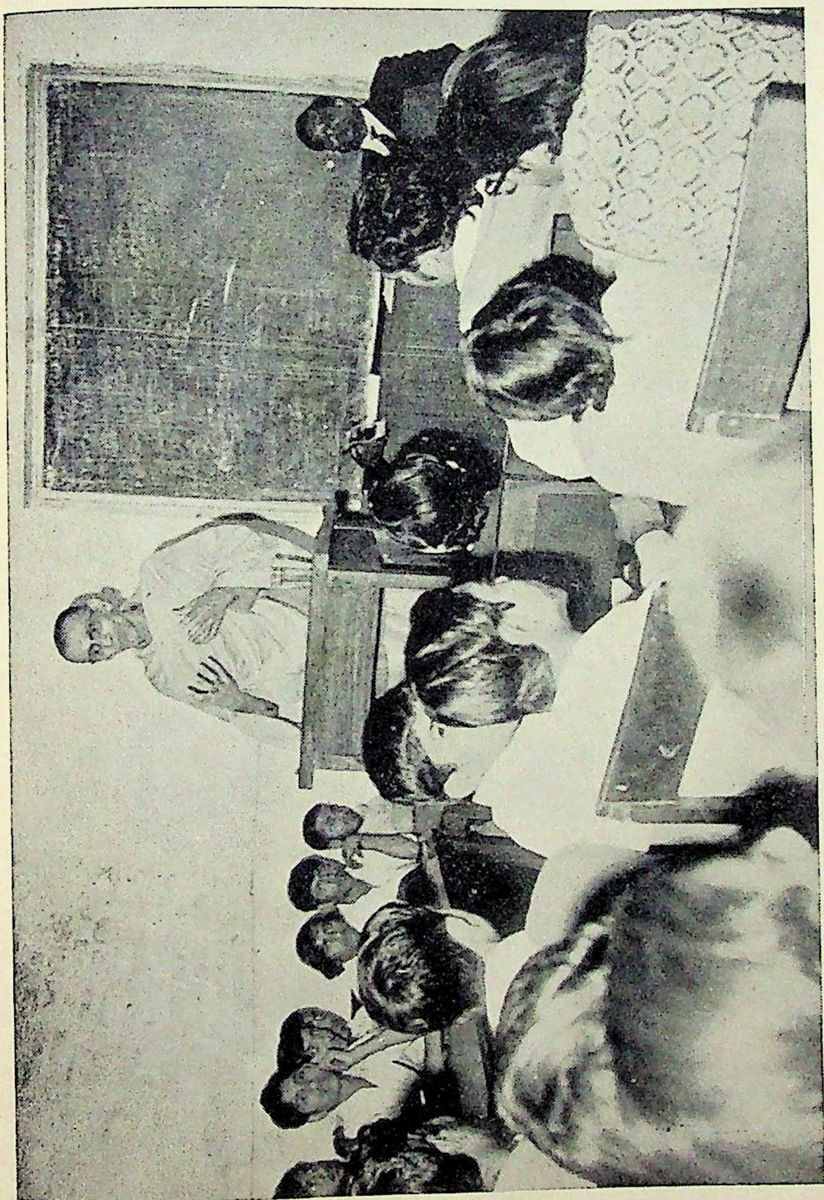
यह जीवन एक लम्बा प्रवास है। प्रवास में रात का अन्धकार होते ही यात्रा स्थगित करनी पड़ती है। यह संसार एक मुसाफिरखाना जैसा है। जिस तरह मुसाफिरखाने में विश्राम करके फिर आगे बढ़ना होता है, उसी तरह संसार-यात्रा की बात भी है। इसी तरह से हर एक जन्म है। परन्तु सारी यात्रा का लक्ष्य दिव्य परिपूर्णता है। तुङ्गनाथ कहो या बद्रीनाथ—वह पहुँचने की मञ्जिल है और जैसे ही यात्रा समाप्त होती है, फिर शुरू हो जाती है। तो इस बड़े सफ़र में यह जीवन एक दिन के जैसा है, जञ्जीर की एक कड़ी जैसा है; परन्तु पड़ाव दिव्यता है जिसे वेदान्त अपरोक्षानुभूति कहता है, भक्त ईश्वर-साक्षात्कार कहता है। दुःख से निवृत्त होकर आनन्द में पहुँचने के लिए, इस अपूर्ण अवस्था को छोड़ कर परिपूर्णता तक पहुँचने के लिए शरीर, मन, वासना और संस्कार में बद्ध पाश से मुक्त होने के लिए जो प्रयत्न करना है, उस का नाम है साधना।

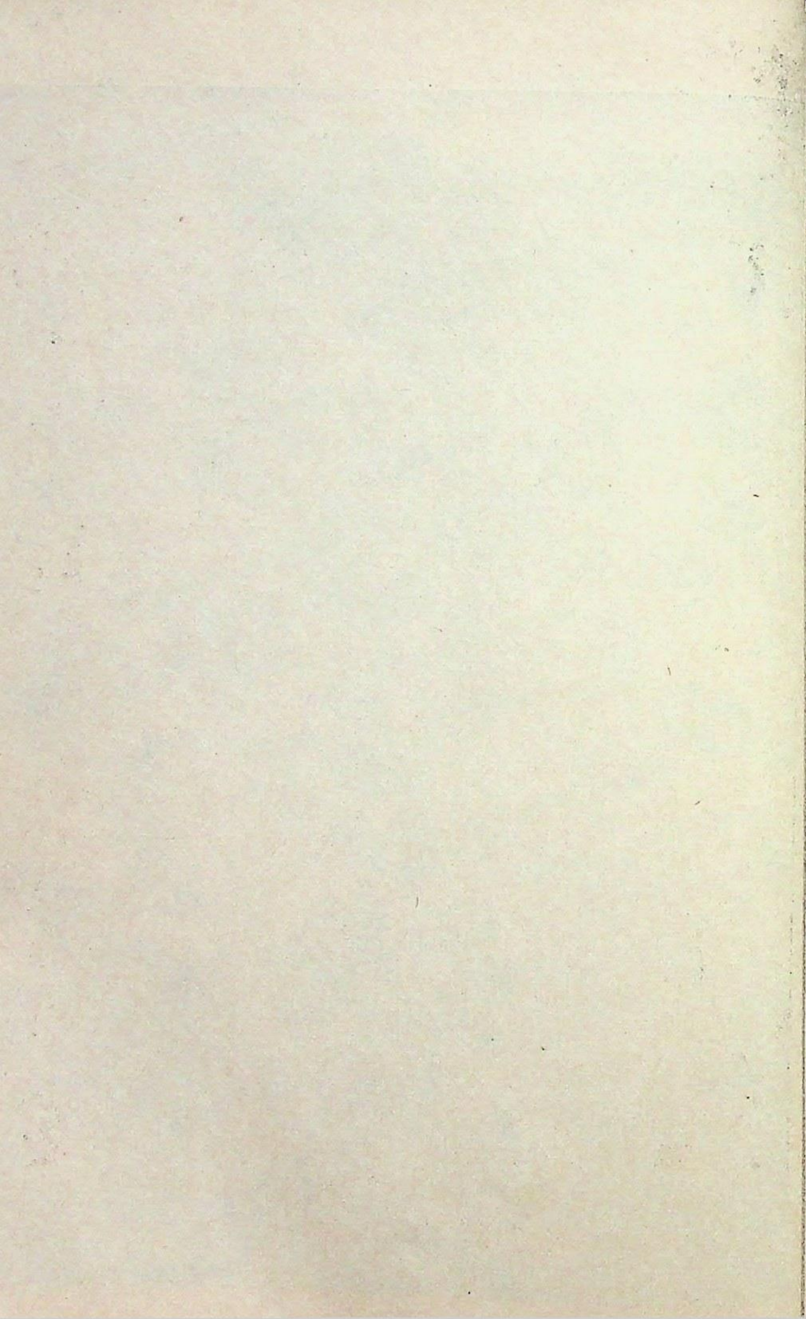
कौन नहीं चाहता है कि हम बन्धन से मुक्त हों? इस अज्ञान, चिन्ता और शोक से मुक्त होकर ज्ञान को पहुँचे, यह कौन नहीं चाहता है? सिर्फ बात यह है कि हमारी साधना गलत दिशा में जा रही है। साधना करते हैं सुख-प्राप्ति के वास्ते, शान्ति-प्राप्ति के वास्ते, लेकिन ऐसी वस्तु जो नश्वर है, अनित्य है, अशाश्वत है, थोड़े समय रहकर चली

जाने वाली है, बदल जाने वाली है—उससे शाश्वत और नित्य वस्तु कैसे उपलब्ध हो सकती है ? बचपन का, शैशव का सौन्दर्य युवावस्था में चला जाता है, युवावस्था की सुन्दरता बुढ़ापे में चली जाती है, दाँत गिर जाते हैं, आँख की ज्योति क्षीण हो जाती है, कान से सुनना कम हो जाता है। इस प्रकार जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य की गति है, उसमें सब चीजें परिवर्तित हो जाती हैं। और परिवर्तन कहाँ के लिए ? क्या दिशा है परिवर्त्तन की ? समाप्ति, डिसोल्यूशन (Dissolution)। गुरु महाराज इस बात को समझाने के लिए बार-बार कहा करते थे कि हम देखते हैं कि इस बीसवीं सदी में Power-Politics (पावर पालिटिक्स) है। परमाणु बम से हीरोसीमा मिट गया। दूसरा विश्व-युद्ध हो गया और इस जगत् में फैल गया। ऐसी एक अनिश्चय की परिस्थिति जगत् में हो गयी—सब अनिश्चय। कल क्या होगा किसी को पता नहीं, लेकिन गुरु महाराज कहते थे कि ऐसी जागतिक परिस्थिति में भी एक चीज निश्चय है। इसके बारे में कोई मतभेद नहीं है। वह चाहे कैपिटलिस्ट (पूँजीवादी) हो, कम्युनिस्ट (साम्यवादी) हो, चीन का हो, जापान का हो; परन्तु सब के लिए यह बात निर्विवाद है कि एक दिन हम सबको जाना पड़ेगा, हमारा जीवन समाप्त हो जायगा। इस समय १९७५ का साल है, तो ७०-८० साल के पश्चात् जितने वक्ता और श्रोता हम यहाँ पर बैठे हैं, उनमें से कोई रहेगा ? लेकिन जीवन का यह नाटक तो चलता जायगा; क्योंकि भगवान् ने यह स्टेज (रङ्गमञ्च) रच दिया है। यहाँ पर यह अखण्ड नाटक चल ही रहा है। एक प्रलय आता है, फिर 'यथा पूर्वं अकल्पयत्' के अनुसार निर्माण होता रहता है।

लेकिन जहाँ तक हमारा मामला है तो हमारा अस्तित्व कुछ काल के लिए ही यहाँ है, हमारी यह कायमी (स्थाई) बस्ती नहीं है। हम एक पथिक हैं, प्रवासी हैं। यह भूल करके जो शान्ति और परिपूर्णता हम चाहते हैं, जिसकी हम खोज करते हैं, उसे हम क्षणिक, नाशवान् वस्तुओं में चाहते हैं। यह कैसे हो सकता है ? यह सम्भव नहीं है, लेकिन हम इन्हीं चीजों के लिए बहुत परिश्रम करते हैं, झूट-कपट करते हैं, धोखा भी देते हैं, पैसा भी कमाते हैं; लेकिन यह साधना निष्फल इसलिए होती है; क्योंकि जिस सामग्री द्वारा हम सन्तोष, सुख और आनन्द की खोज कर रहे हैं उसमें हम इन्द्रिय की विषय वस्तुओं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि—को भी पूरी तरह तृप्त नहीं कर पाते हैं। यह सारा संसार जिनकी रचना है, वे ही खुद कहते हैं—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।' —(गीता ५-२२)। विषय-वस्तु के सम्पर्क से जो भोग आता है, उससे अन्त में दुःख ही आता है। इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से जो भोग उत्पन्न होता है, उसका अन्तिम परिणाम दुःख है। तब क्या हम त्यागी बन जायें ? स्वामी जी बन जायें ? विरक्त बन जायें ? सब कुछ छोड़ दें ? हाँ, हो सके तो करो।

श्लोक का अर्थ तो यह है कि जब तक हम पार्थिव शरीर में हैं तब तक उसका धर्म है, भूख-प्यास, शीत-उष्ण, इच्छाएँ हैं। इस शरीर के अन्दर हमारा प्राणमय कोष है, मनोमय कोष है, विज्ञानमय कोष है, स्मृति है, कल्पना है, इच्छा है, कई प्रकार की आशाएँ हैं। हमारे अन्दर चेतना है। हम जड़ वस्तु नहीं हैं, इसलिए हम प्रकृति के विरोध में भी नहीं जा सकते हैं, इसलिए, उसको हम रोक नहीं सकते हैं। हमारी





इच्छाओं की तात्कालिक प्राप्ति है जो हमारे शरीर की आवश्यकताएँ हैं; यहाँ की प्रापञ्चिक मौलिक वस्तुओं के प्रयोग करने में कोई गलती नहीं है। यदि जहाँ पर इसका प्रयोग होना चाहिए, हमने नहीं किया तो हमारी मूर्खता है। उससे हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इन चीजों से हम काम ले सकते हैं, लेकिन यदि इन चीजों में ही हमारा आनन्द है, सुख है, यही हमारे जन्म का लक्ष्य है—इस भूल-भुलैया में यदि हम फँस जाएँ, यदि हम कठपुतली बन जाएँ, विषयों के गुलाम बन जाएँ तो हमारी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। आत्मा, जो मानव है, उसका शरीर के साथ सम्बन्ध मालिक का होना चाहिए, गुलाम का नहीं। केवल मात्र आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का प्रयोग होना चाहिए, न कि भोग के लिए। भोग से तो रोग की सम्भावना है। किसी चीज के अति-सेवन से, आवश्यकता से अधिक ग्रहण करने से शरीर में विकृति आती है। शान्ति और आनन्द की खोज करता हुआ मानव जब इस खोज को गलत दिशा में ले जाकर प्राप्त करने की आशा करता है, इस फन्डामेन्टल एरर (Fundamental error) (मौलिक भूल) से आदमी दुःखी है।

जितना भौतिक वस्तुओं के लिए हम परिश्रम करते हैं, जीते हैं, मरते हैं इसका ५०% प्रयत्न भी हम सही दिशा में करें तो हमें यहीं पर शान्ति और आनन्द मिल सकता है। हम रोने के लिए इस संसार में नहीं आये हैं, मरने के लिए नहीं आये हैं। Our destiny is to become immortal (अमर बनना हमारी नियति है।) सर्व-दुःख-निवृत्ति और परम आनन्द-प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य है। सब दुःख-सुख,

जरा-व्याधि से निवृत्त होकर परिपूर्ण आनन्द में रमने के लिए हमें मानव-जन्म मिला है। तो यदि सही दिशा में प्रयत्न करके उस परिपूर्ण तत्त्व, शाश्वत तत्त्व को—जिसका नाम हम क्या बतायें—उपनिषद् के तत्त्वद्रष्टा भी उसका नाम नहीं बता पाये—हमने यदि न प्राप्त किया तो यह अमूल्य जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा। हम इतना ही जानते हैं कि दो दिन रह कर हमें चले जाना है।

उन तत्त्वद्रष्टाओं ने यह कहा कि 'नेति-नेति'—यह वह नहीं है। वेदान्त में केवल मात्र यह कहा गया है कि वह 'सत्' है—'ॐ तत्सत्', 'तत् त्वम् असि'। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (गीता : ४-३४)—उसको तुम पहचानो। इस भूल-भुलैया में फँसो नहीं। वह हमारे ज्ञान और अनुभव के अन्दर वाली कोई चीज है ही नहीं। हमारे अनुभव की सीमा के अन्दर जो है, उसको हमने एक-एक नाम दे दिया है। हमारे मस्तिष्क और पञ्चेन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया गया जो ज्ञान है, वह सब नामरूप है; परन्तु 'उसको' हम क्या नाम दें? वह अनादि, अनन्त, नित्य, शाश्वत सत्ता है। उसे चाहे सच्चिदानन्द कहो, आत्मा कहो परमात्मा कहो। उन्होंने कहा कि हम ऐसा इसलिए कहते हैं कि हमने उसे प्राप्त कर लिया है। हम आनन्द ही आनन्द में हैं। हे मानव! संक्षेप में यह तुम्हारे परम हित की बात है। हम अपने अनुभव के आधार पर यह दावे से कहते हैं कि आनन्द प्राप्त हो सकता है। क्यों तुम यहाँ पर रोते हो, तुम यहाँ पर भटकते हो? पृथ्वी का, प्रपञ्च का दुःख कोई आवश्यक नहीं है; क्योंकि तुम अमरत्व और आजादी के लिए पैदा हुए हो। ऐसा कहकर उन्होंने हमें

पुकारा है, 'हे अमृतस्य पुत्राः! उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' (कठोपनिषद् : १-३-१४।)

गलत दिशा में हम जिस शक्ति का प्रयोग करते हैं, उसी को सही दिशा में प्रयोग करने को कहते हैं योग-साधना। साधना का अर्थ है परिश्रम। पाने वाली चीज की कोशिश को साधना कहते हैं और जिसको प्राप्त किया जाता है, उसे साध्य वस्तु कहते हैं; क्योंकि साध्य में उसका और आपका मिलन हो जाता है, संयोग हो जाता है। अभी आपका संयोग किसके साथ है? चिन्ता, परेशानी और दुःख के साथ, बेचैनी के साथ। वह योग ऐसा है कि इस योग को खत्म कर देगा। यह दुःख, चिन्ता, शोक, भय, बन्धन आदि का बना हुआ जो योग है, वह योग इसको खत्म कर देगा। 'दुःखसंयोगवियोगं योग-संज्ञितम्' (गीता : ६-२३), क्योंकि वह उस परिपूर्ण दिव्य तत्त्व के साथ आपको मिला देता है। यह ठीक दिशा में, ठीक वस्तु के वास्ते प्रयास है। इसी को कहते हैं योग-साधना। इस योग-साधना में सारभूत तत्त्व जो है, जिसका चिन्तन हम हमेशा करते रहते हैं, वही हमारे अन्दर आकर बैठ जाता है और जिसका निशान हमारे चित्त में बस गया तो बार-बार उसी की याद आती है। याद उसी की आती है जिसका निशान हमने डाल दिया है।

इस नाशवान्, अशाश्वत वस्तु का चिन्तन करते-करते हमारी एक आसक्ति बन जाती है। एक आशा, एक अशान्ति पैदा होती है। जहाँ पर अशान्ति है, वहाँ चैन नहीं है। आशा के होते हुए हम प्रयास करते हैं। उस प्रयास में विघ्न-बाधा आ गयी तो क्रोध आ जाता है, निराशा आ जाती है। जिस

किसी व्यक्ति या परिस्थिति से हमारी इच्छा में विघ्न आ गया उसके प्रति द्वेष-भावना आ जाती है, उद्वेग आ जाता है। मनुष्य अपने आप पीड़ित हो जाता है। अन्दर आग जल जाती है। इन अशाश्वत वस्तुओं का चिन्तन करते-करते हम अपने अन्दर एक आशा और तृष्णा पैदा करके जटिलता में फँस जाते हैं। अन्तःकरण की इस परिस्थिति को हटाना चाहिए। इसके लिए मन को समझाना पड़ेगा कि अरे भाई ! तुम ऐसी बात में फँसे हो जिससे तुम्हारी शान्ति भङ्ग हो जाती है। तुम अपने हाथ से अपने को बिगाड़ते हो।

अपने जीवन-यापन के लिए जो जितना चाहिए, उसका उतना ही चिन्तन करो। बहुत ज्यादा चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं। इसमें तुम्हारा अहित है, विनाश है। देखने में बाहर से बड़ा आकर्षक है, लेकिन अन्दर से उसमें कोई सुख नहीं है। वह निस्सार है, पोला है. इसलिए उसके पीछे मत जाओ। अरे ! एक दिन यह सब छोड़ कर तुम्हें जाना पड़ेगा। तुम्हारी जिन्दगी में तूफान आ गया तो सब चीजें तुम्हें छोड़ कर चली जायेंगी। इसलिए इसके पीछे मत पड़ो। जिस चीज से तुम्हारा वियोग होना है, उसके पीछे पड़ना दुःख का कारण होगा। इसलिए पुरानी बनी आदतों को शनैः-शनैः छोड़ो। तुम कुत्ते जैसा यह जूठा खाते हो; इस आदत को छोड़ दो। उस तत्त्व का चिन्तन करो जो नित्य, परिपूर्ण है।

मन को आन्तरिक करने के लिए साधना करनी चाहिए। कभी-कभी मन पर जबरदस्ती भी करनी पड़ती है। लेकिन कभी मन को समझाना भी चाहिए। कभी प्यार से उसे विचार देना चाहिए। 'इससे भी अधिक मीठी चीज तुम्हें

दूँगा', ऐसा समझाना चाहिए। कभी विचार से, कभी दण्ड से, कभी-कभी बुद्धि के बल से और कभी-कभी युक्ति से भी मन को अनुकूल करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम जो इस विषय के जङ्गल में फँसे हुए हैं. उनकी जैसी-जैसी परिस्थिति है, उससे निकल कर बाहर आने के लिए वैसी तरकीबें सोचनी चाहिएँ। जब मनुष्य काँटों में फँस जाता है तो उनसे यदि वह जबरदस्ती बाहर निकलने की कोशिश करेगा तो या तो कपड़े फटेंगे या शरीर पर चोट आयेगी। इसलिए शान्ति के साथ कपड़े को साबुत बचाकर किस तरह से बाहर निकल सकें, इसका उपाय करना चाहिए। धीरे-धीरे प्रयत्न करके मन को बाह्य वस्तुओं के चिन्तन करने की आदत की उलझनों से मुक्त करके उसे आन्तरिक करना है। जो अनादि, अनन्त शाश्वत तत्त्व है, उसके ऊपर या किसी उपनिषद्-वाक्य पर मन को एकाग्र करना ही मन को अनेक में से निकाल कर एक पर केन्द्रित करने का तरीका है।

विवेक, विचार और प्रत्याहार द्वारा बाहर जाते हुए मन को सत् तत्त्व में लगा कर शरीर को स्थिर करके अन्तर्मुखी बनाना चाहिए। अन्नमय और मनोमय कोष के बीच में प्राण-मय कोष है। यह प्राणमय कोष शरीर और मन को जोड़ने का माध्यम है। इसलिए हर रोज १० मिनट, १५ मिनट, आधा घण्टा या पौन घण्टा जितना भी समय मिले, बैठकर प्राण को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। जैसे-जैसे बाहर से शरीर स्थिर होता जायगा, वैसे-वैसे प्राण में भी स्थिरता आती जायगी। सामान्य प्राणी में प्राण की तरङ्गें, उसकी स्थिति बहुत विसङ्गत होती है। इसलिए एक अडिग आसन में बैठकर रोज-रोज अभ्यास करने से प्राण की गति को

किसी व्यक्ति या परिस्थिति से हमारी इच्छा में विघ्न आ गया उसके प्रति द्वेष-भावना आ जाती है, उद्वेग आ जाता है। मनुष्य अपने आप पीड़ित हो जाता है। अन्दर आग जल जाती है। इन अशाश्वत वस्तुओं का चिन्तन करते-करते हम अपने अन्दर एक आशा और तृष्णा पैदा करके जटिलता में फँस जाते हैं। अन्तःकरण की इस परिस्थिति को हटाना चाहिए। इसके लिए मन को समझाना पड़ेगा कि अरे भाई ! तुम ऐसी बात में फँसे हो जिससे तुम्हारी शान्ति भङ्ग हो जाती है। तुम अपने हाथ से अपने को बिगाड़ते हो।

अपने जीवन-यापन के लिए जो जितना चाहिए, उसका उतना ही चिन्तन करो। बहुत ज्यादा चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं। इसमें तुम्हारा अहित है, विनाश है। देखने में बाहर से बड़ा आकर्षक है, लेकिन अन्दर से उसमें कोई सुख नहीं है। वह निस्सार है, पोला है, इसलिए उसके पीछे मत जाओ। अरे ! एक दिन यह सब छोड़ कर तुम्हें जाना पड़ेगा। तुम्हारी जिन्दगी में तूफान आ गया तो सब चीजें तुम्हें छोड़ कर चली जायेंगी। इसलिए इसके पीछे मत पड़ो। जिस चीज से तुम्हारा वियोग होना है, उसके पीछे पड़ना दुःख का कारण होगा। इसलिए पुरानी बनी आदतों को शनैः-शनैः छोड़ो। तुम कुत्ते जैसा यह जूठा खाते हो; इस आदत को छोड़ दो। उस तत्त्व का चिन्तन करो जो नित्य, परिपूर्ण है।

मन को आन्तरिक करने के लिए साधना करनी चाहिए। कभी-कभी मन पर जबरदस्ती भी करनी पड़ती है। लेकिन कभी मन को समझाना भी चाहिए। कभी प्यार से उसे विचार देना चाहिए। 'इससे भी अधिक मीठी चीज तुम्हें

दूँगा', ऐसा समझाना चाहिए। कभी विचार से, कभी दण्ड से, कभी-कभी बुद्धि के बल से और कभी-कभी युक्ति से भी मन को अनुकूल करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम जो इस विषय के जङ्गल में फँसे हुए हैं. उनकी जैसी-जैसी परिस्थिति है, उससे निकल कर बाहर आने के लिए वैसी तरकीबें सोचनी चाहिएँ। जब मनुष्य काँटों में फँस जाता है तो उनसे यदि वह जबरदस्ती बाहर निकलने की कोशिश करेगा तो या तो कपड़े फटेंगे या शरीर पर चोट आयेगी। इसलिए शान्ति के साथ कपड़े को साबुत बचाकर किस तरह से बाहर निकल सकें, इसका उपाय करना चाहिए। धीरे-धीरे प्रयत्न करके मन को बाह्य वस्तुओं के चिन्तन करने की आदत की उलझनों से मुक्त करके उसे आन्तरिक करना है। जो अनादि, अनन्त शाश्वत तत्त्व है, उसके ऊपर या किसी उपनिषद्-वाक्य पर मन को एकाग्र करना ही मन को अनेक में से निकाल कर एक पर केन्द्रित करने का तरीका है।

विवेक, विचार और प्रत्याहार द्वारा बाहर जाते हुए मन को सत् तत्त्व में लगा कर शरीर को स्थिर करके अन्तर्मुखी बनाना चाहिए। अन्नमय और मनोमय कोष के बीच में प्राणमय कोष है। यह प्राणमय कोष शरीर और मन को जोड़ने का माध्यम है। इसलिए हर रोज १० मिनट, १५ मिनट, आधा घण्टा या पौन घण्टा जितना भी समय मिले, बैठकर प्राण को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। जैसे-जैसे बाहर से शरीर स्थिर होता जायगा, वैसे-वैसे प्राण में भी स्थिरता आती जायगी। सामान्य प्राणी में प्राण की तरङ्गें, उसकी स्थिति बहुत विसङ्गत होती है। इसलिए एक अडिग आसन में बैठकर रोज-रोज अभ्यास करने से प्राण की गति को

सुसङ्गत करना होता है और जब प्राणों में सुसङ्गति आती है तो मन भी शान्त होने लगता है।

साकार-सगुण पर ध्यान लगाने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने कई सुन्दर-सुन्दर श्लोक बना रखे हैं। जैसे :

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं
सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षस्थल-कौस्तुभश्रियं
नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ।।

या

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पुर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।

ऐसे हरेक साकार-सगुण के अनेकों ध्यान-श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त ओङ्कार या उपनिषदों के श्लोकों के माध्यम से निराकार का ध्यान करने का रास्ता भी है। साधना का सारभूत तत्त्व यह है कि इस बाहर जाने वाले मन को अन्दर ले जा कर, उसकी चञ्चलता को नियन्त्रित करके उस सत् तत्त्व में लगाओ जो 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' है, सौन्दर्य का भी सौन्दर्य है, अनादि, अनन्त व दिव्य है। साधना करो अर्थात् प्रयत्न करो। ऐसा प्रयत्न करो जो तुम्हें 'उसके' साथ जोड़ दे। योग-साधना की जो अन्तिम प्रक्रिया है, मुख्य प्रक्रिया है, वह है ध्यान। पूजा हो या अर्चना, नाम-सङ्कीर्त्तन हो या हवन, अन्त में सब को ध्यान में विलीन होना है। चाहे

वह हिन्दू की साधना हो, चाहे मुसलमान की हो, चाहे जैन की हो या सिक्ख की हो, चाहे यहूदी की हो या ईसाई की, अन्त में उसको उस सत् तत्त्व के, जिसे भगवान् कहो या अल्लाह, ध्यान में विलीन होना है। अन्तर्चेतना को एक बना कर परिपूर्ण रूप से उसे 'उस' पर लगा देना चाहिए। एक अखण्ड-धारा बना कर 'उसके' अन्दर प्रवेश करना चाहिए।

योग का अन्तिम सारभूत तत्त्व ज्ञान है। शरीर आपको ज्ञान-प्राप्ति के लिए, योग-साधना के लिए दिया गया है। यदि आप साधना करते हैं तो आपका जीवन सफल है। नहीं करते हैं तो आपने जिन्दगी का मतलब ही नहीं जाना है। साधना करना ही जीवन का सारभूत तत्त्व है। बाकी जो चेष्टा मानव करता है, वह कौन नहीं करता ? हर प्राणी, हर पशु, हर कीट-पतङ्ग सभी उन चेष्टाओं को करते हैं। भूख के लिए खाना, थकावट मिटाने के लिए रात को सोना, यह सभी प्राणी करते हैं। पक्षी पेड़ों में किस-किस तरह के घोंसले बनाता है ? एक बया पक्षी है। वह पेड़ों पर उलटा लटका हुआ घोंसला बनाता है। उसमें दो-तीन खाने होते हैं। उसका पूरा ब्लू प्रिन्ट (Blue Print)- रेखाचित्र--उसके दिमाग में होता है। कितना श्रम है उसमें ? कितनी जटिलता है कि देखने वाले भी हैरान हो जाते हैं। तो खाने के लिए, पीने के लिए, सोने के लिए, रहने के लिए परिश्रम करना मानव की कोई विशेषता नहीं है। यह सब प्राणिमात्र करता है। लेकिन हमारी विशेषता यह है कि हम साधना द्वारा दिव्यता को, परिपूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। मानव होकर हमने साधना नहीं की तो हम मानवाकृति में तो हैं; परन्तु असली मानव नहीं हैं। वेदान्त यही कहता है कि आपकी असली

जिन्दगी तब शुरू होती है जब आप साधना करने लगते हैं। साधना की सर्वोच्च प्रक्रिया को ही ध्यान कहते हैं। बाकी साधना करने की तैयारियाँ हैं।

हमें यदि एम०ए० की डिग्री प्राप्त करनी है तो उसकी शुरूआत किण्डरगार्टेन (Kinder-garten)—शिशुविहार—से होती है। इस तरह मन्दिर जाना, उपवास करना अन्तःकरण को ध्यान के लायक बनाने की सीढ़ियाँ हैं। आप सब को योग-साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। यह हर एक मानव का मौलिक कर्त्तव्य है। इसी के लिए भगवान् ने मानव-जन्म दिया है। माता-पिता को छोटे बच्चों को बिठा कर ध्यान कराना चाहिए। हमारी संस्कृति में इस तरह की व्यवस्था थी। बच्चा आठ साल का होता था तो उसे गायत्री-मन्त्र देकर गायत्री-उपासना में लगा देते थे। प्रतिदिन तीन बार बैठ कर जप-ध्यान करना पड़ता था। प्रातःकालीन सन्ध्या-वन्दन, मध्यकालीन सन्ध्या-वन्दन और सायंकालीन सन्ध्या-वन्दन—इस तरह तीन समय अभ्यास का समय निश्चित था। आखिर में इस तरह के ध्यान किए बगैर वह रह नहीं सकता था। अभी हमको पुनः इस व्यवस्था को शुरू करना चाहिए। नहीं तो जिन्दगी भर मन को इधर-उधर जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया, मन की उस तरह की आदत बना दी, फिर आखिरी दिनों में उसको वश में करने का प्रयत्न करने लगे तो उसे सँभालना बड़ा कठिन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि साधना के बारे में जो भ्रान्त धारणा आप लोगों के मन में है, उसे मैं निकालना चाहता था।

धन्य है यह गृहस्थाश्रम

हमारी संस्कृति में जो शाश्वत है, उसी का मूल्य है। जो कुछ समय रहकर नष्ट हो जाने वाला है, उसका मूल्य गौण है। इसलिए आदर्श भारतीय होकर जिस जीवात्मा का जन्म भारत भूमि पर हुआ, वह सदा नित्य का ही उपासक रहा। अनित्य के आकर्षण में फँसकर नित्य से वञ्चित होना किसी के लिए भी इष्ट नहीं है। नाशवान् पदार्थों के पीछे पड़ कर मानव-जीवन का अमूल्य अवसर खो देने से बढ़कर और कोई अन्धापन नहीं है। अनित्य वस्तुओं का उपयोग करो; परन्तु उनके उपासक मत बनो, उन्हीं को सर्वस्व मत समझो।

अनित्य पदार्थों का कोई प्रयोजन न हो, ऐसी बात नहीं है। जहाँ उनका प्रयोजन हो वहाँ उनका मूल्य है। हाँ, इतना अवश्य समझ लो कि नित्य वस्तु से ही नित्य तृप्ति आ सकती है। अनित्य वस्तु के सम्पर्क का एक दोष यह भी है कि जब उससे हमारा सम्पर्क टूटता है, उससे हमारा वियोग होता है तो वह वियोग हमारे लिए दुःखदायी बन जाता है। हमारा एक-दो नहीं, सैकड़ों अनित्य वस्तुओं से सम्पर्क बनता है, संयोग होता है। इतनी सब चीजों से वियोग का दुःख कितना कष्टकर होता होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

हमारी संस्कृति ने शाश्वतता का जो यह पहला मूल्य स्वीकार किया है, उसी में से एक दूसरे मूल्य का प्रादुर्भाव होता है। भगवद् तत्त्व की प्राप्ति में, मोक्षाभिमुख होने के मार्ग में जो सहायक वस्तुएँ हैं, वे सब धर्म की परिधि में रखी गयी हैं। धर्म की परिभाषा यदि मौलिक रूप से देनी हो तो कहना होगा कि परम लक्ष्य की प्राप्ति में जो कुछ सहायक बनता है, वह धर्म है। इस तरह हमारी संस्कृति में धर्म और जीवन को अभिन्न माना गया है। इसलिए आध्यात्मिक जीवन, योग-साधना की बुनियाद धर्म में है। धर्म के द्वारा आपको न केवल आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, वरन् धार्मिक जीवन के अनुकरण से इस प्रापञ्चिक जीवन और परम लक्ष्य की प्राप्ति– दोनों ही हित साधित होते हैं।

जो नित्य दिव्य तत्त्व है, वह सारे चराचर जगत् में, बाहर और अन्दर सर्वत्र व्याप्त है। वह सब में है और सब उस में समाहित है। इसलिए इस जगत् में किसी भी वस्तु के प्रति हम जो व्यवहार करते हैं, अन्तिम विश्लेषण में वह परमात्म-तत्त्व के प्रति किया जाता है—

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

—नारायणसूक्तम्

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

—ईश

ऐको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद

यह जो सत्य है, इसको मन में रखकर जो अपना जीवन बनाता है, वह भगवान् को कभी भी प्राप्त हो सकता है। जो सब वस्तुओं में परमात्मा को और परमात्मा में सब वस्तुओं को देखता है, ऐसे सत्यद्रष्टा का परमात्मा से कभी भी वियोग नहीं होता। इस दृष्टि से व्यावहारिक जगत् में हम जो कुछ भी करते हैं, वह अन्तिम विश्लेषण में भगवान् के प्रति किया गया व्यवहार ही है।

अब यदि हर एक में परमात्म-भाव मानकर व्यवहार करना हो तो वह हमेशा सद्व्यवहार ही हो सकता है। तब हम दुश्चरित्र नहीं कर सकते, कोई क्रूर कर्म नहीं कर सकते और न कोई असत्य व्यवहार ही कर सकते हैं। इसलिए यदि हम अपने व्यवहार में किसी का अपमान करते हैं, किसी को दुःख देते हैं तो क्या होगा ? वह ईश्वर का अपमान बन जाता है। इसलिए सद्व्यवहार हमारी आध्यात्मिक साधना से अभिन्न है, अखण्ड है। व्यवहार करना और उपासना करना—ये दोनों एक ही प्रक्रिया के अङ्ग हैं। इसलिए जीवन की बहिर्मुखता और अन्तरोन्मुखता में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। धर्म और परमार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतएव आपका व्यवहार यदि धार्मिक है तो आपकी साधना सफल है। हम आध्यात्मिक जीवन में तभी सफलता पा सकते हैं जब हमारा तथाकथित प्रापञ्चिक व्यवहार, लौकिक बरताव पवित्र रहे। इसलिए हमारी संस्कृति की दृष्टि में धार्मिक जीवन को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है।

यदि आपकी संस्कृति ने नित्य सत् को प्रथम मूल्य दिया है और उसकी प्राप्ति के लिए पवित्र जीवन, धार्मिक जीवन

को दूसरा स्थान दिया है, तब यह स्वाभाविक है, यह सहज ही निर्णय होता है कि मानव-जीवन का कोई भी पहलू अपवित्र नहीं है, अनाध्यात्मिक नहीं है। इस दृष्टि से सारा मानव-जीवन ऊर्ध्वगामी, भगवतोन्मुखी प्रक्रिया बन सके, इसके लिए आश्रम-धर्म के रूप में हमारे पूर्वजों ने बहुत सुन्दर रूपरेखा दी है।

उन्होंने यह माना कि आध्यात्मिक जीवन की साधना के लिए जिस-जिस ज्ञान की आवश्यकता है, उसे प्रारम्भिक अवस्था में ही दे देना चाहिए। व्यक्ति को इस तरह का एक आदर्श बचपन में सौंप दो जिससे वह एक उत्तम पुरुष बन सके। स्वच्छ और आदर्श वातावरण में बालक का विकास हो। उसको इस तरह का शिक्षण दिया जाय कि हमारी संस्कृति के अनुसार जिस तरह का मानव-जीवन होना चाहिए, उस तरह की प्रेरणा और ज्ञान मिल सके। इसलिए आठ-नौ वर्ष की आयु में बालकों को ऋषियों के पास जाकर सौंप देते थे। वह बालक उन ऋषियों को अपने माता-पिता के समान समझता था और विद्याध्ययन करता था।

बालक के व्यक्तित्व का निर्माण वहाँ पर हुआ करता था। वहाँ पर योग-वेदान्त और धर्म-शास्त्रों का शिक्षण दिया जाता था। प्रथम अवस्था को पार करके जब वे दूसरी अवस्था में जायेंगे तो जीवन-यापन के लिए उनको जिस भौतिक ज्ञान की आवश्यकता है, उस तरह की विद्या भी उन्हें सिखायी जाती थी। वाणिज्य, कृषि-कर्म आदि का सब ज्ञान उन्हें वहाँ पर दिया जाता था। धार्मिक, नैतिक और जीवनोपयोगी शिक्षण की व्यवस्था एक साथ हमारे गुरुकुलों में होती थी। २५ वर्ष

की आयु तक इस तरह के ज्ञान से सम्पन्न होकर वह जीवन की दूसरी अवस्था में प्रवेश करता था।

जिस तरह बालक को गुरुकुल में शिक्षण देने की व्यवस्था थी, उसी तरह बालिकाओं के लिए घर पर शिक्षण की योजना थी। माता-पिता अपने जीवन के आदर्श के द्वारा बालिका को भावी जीवन के लिए तैयार करते थे। इस तरह के चरित्रवान् व स्वस्थ युवक-युवतियाँ सादगीपूर्ण जीवन बिताने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। इतनी पवित्र एकता उनमें होती थी कि स्त्री को अर्धाङ्गिनी का विशेषण ही हमारी संस्कृति ने दे डाला है। इसके साथ वह सहधर्मिणी भी कहलाती थी। पुरुष द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों की वह प्रेरणास्रोत होती थी और उनमें अपने पति की सहयोगिनी होती थी। जब तक विवाह नहीं हो जाता था, तब तक कई ऐसे धार्मिक संस्कार थे जिन्हें पुरुष सम्पन्न नहीं कर सकता था। जनेऊ से पहले कई आध्यात्मिक प्रक्रियाओं से वह नहीं गुजर सकता था। यज्ञोपवीत-संस्कार से पहले उसे देव-पूजन का अधिकार नहीं होता था। यज्ञोपवीत के बाद वेदाध्ययन, गायत्री-जप, प्राणायाम आदि का अधिकार प्राप्त होता था और विवाहोपरान्त होम आदि करने की पात्रता प्राप्त होती थी।

वर्त्तमान समय में भी जो पुरुषार्थ करना है, जो धर्म-कार्य करना है, उसमें ये दोनों (पति-पत्नी) परस्पर पूरक हैं। पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल शारीरिक सहयोग नहीं है। यह दो परिवारों को एक में जोड़ने का केवल सामाजिक सहयोग भी नहीं है। हमारी संस्कृति में विवाह का जो सामाजिक पहलू है, वह गौण है। विवाह का मौलिक आधार यह है कि यह दो

जीवात्माओं का एक आध्यात्मिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्थापित करके इन दोनों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में आगे बढ़ना होता है। इस साधना में सामाजिक दृष्टि से धार्मिक अनुष्ठान और अपने अन्तरङ्ग जीवन में दिन-प्रतिदिन ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ना होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शङ्कराचार्य के मायावाद की गलत समझ के कारण एक गलत धारणा घर कर गयी है। लोग समझते हैं कि यह संसार निस्सार है, माया जाल है, बड़ा जङ्गल है, दुःख का महासागर है। इसमें भयानक जन्तु हैं जो हमें खा जायेंगे। इस भयानक सागर को पार करना है। परन्तु ये सारी बातें सन्तों और कवियों के द्वारा वैराग्य की स्थिति में कही गयी हैं। 'यह दुनिया है खाक का ढेर'—यह बात आपके गृहस्थाश्रम के विषय में नहीं कही गयी है; यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम एक पवित्र आश्रम है। माना जाता है कि तीनों आश्रमों को उबारने वाला गृहस्थाश्रम है।

ब्रह्मचर्याश्रम में जब बालक गुरुकुलों में पढ़ते थे, तब उनका सारा व्यय कुलपति या ऋषिपत्नी को वहन करना पड़ता था। इन गुरुकुलों के व्यय की व्यवस्था गृहस्थों द्वारा होती थी। विशेषकर राजा लोग बहुत सहायता करते थे। गुरुकुलों के लिए जमीन और गायों की व्यवस्था राज-परिवारों के द्वारा की जाती थी और उनकी रक्षा की व्यवस्था करना भी राजधर्म के अन्तर्गत आता था। गृहस्थ के बाद वानप्रस्थाश्रम आता था। यह जीवन की तीसरी अवस्था थी। गृहस्थाश्रम में खेती की या वाणिज्य किया। लड़के बड़े हो गये,

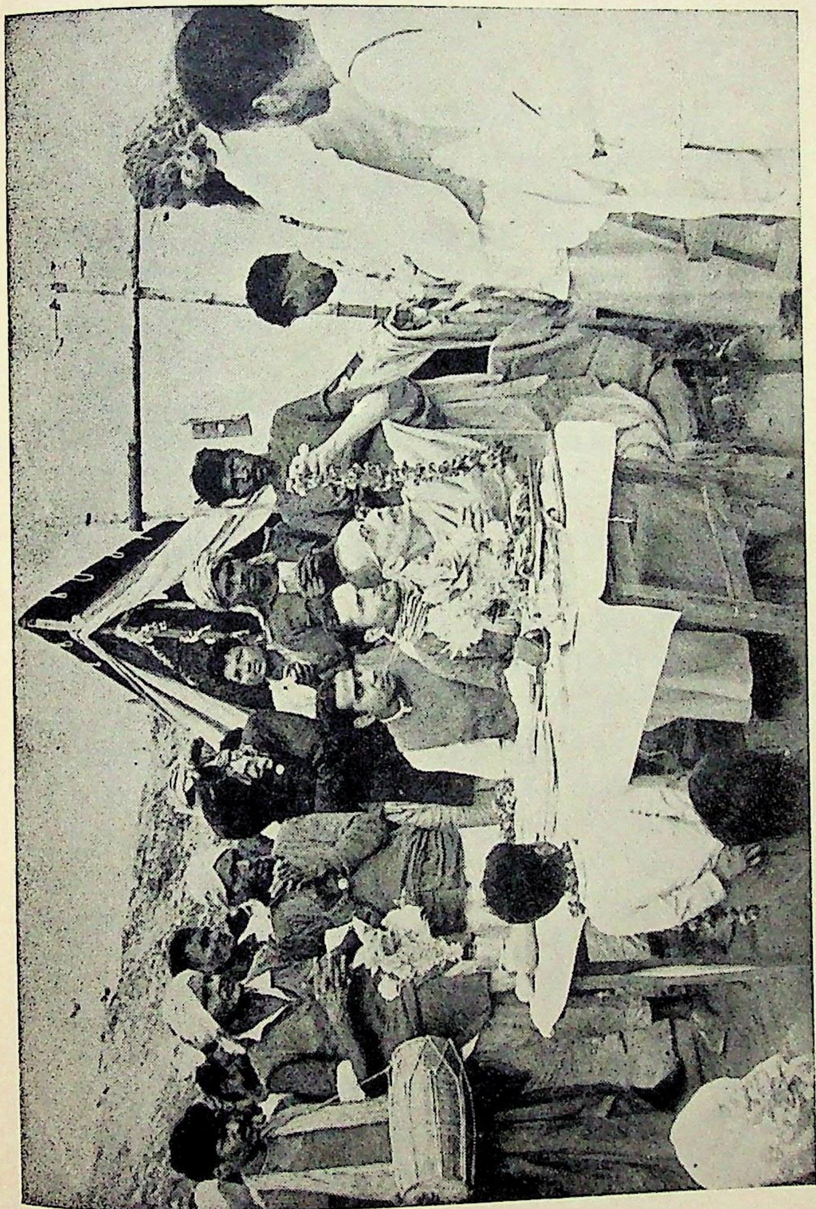
तब भी माता-पिता उन पर नियन्त्रण रखें, इस तरह की कल्पना हमारी संस्कृति में नहीं है। लड़के जब अपने पैरों पर खड़े हो गये तो पति-पत्नी धीरे-धीरे गृहस्थ से अवकाश प्राप्त कर लें, इस तरह की योजना हमारी संस्कृति में रही है। कल्पना यह रही है कि एक आयु के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थ के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाये, उसका अधिक समय साधु-सन्तों के सत्सङ्ग में व्यतीत हो और यदि घर पर भी रहे तो घर के कामों में कम-से-कम हस्तक्षेप हो।

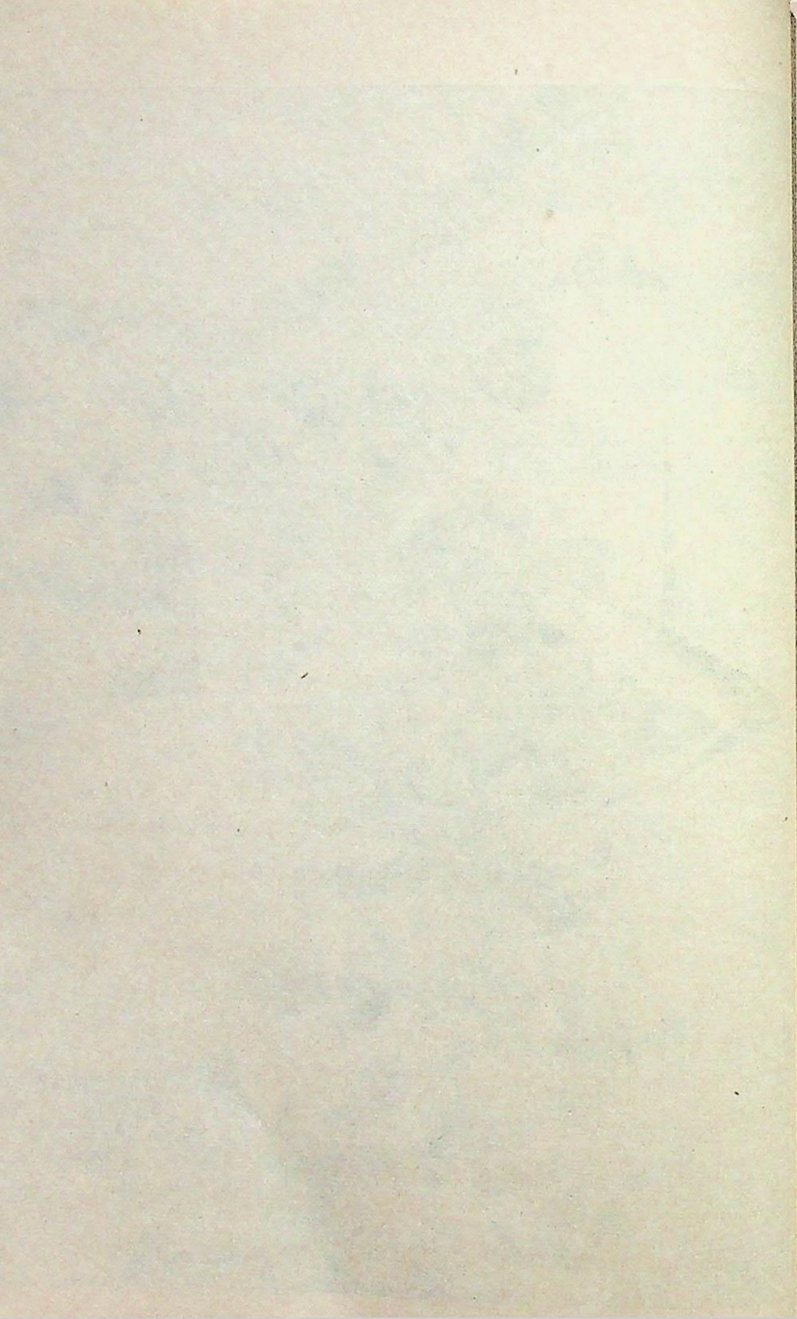
वानप्रस्थ आश्रम का उद्देश्य यह था कि माता-पिता का प्रभुत्व बालकों पर से कम होता चला जाय। वे अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करते हुए स्वावलम्बी जीवन की ओर बढ़ सकें। परिवार में कलह और तनाव की स्थिति पैदा होने का अवसर न आये। नहीं तो यदि अन्त समय तक माता-पिता ही सारा उत्तरदायित्व सँभालते रहे तो बालक पङ्गु हो जायेंगे। इस तरह के वानप्रस्थी को भी सहारा देने वाला गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया हुआ उन्हीं का लड़का होता है। इसी तरह विरक्त संन्यासी भी गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करते हैं। जीवन-यात्रा चलाने के लिए जो कुछ भी भिक्षा वे प्राप्त करते हैं, वह गृहस्थाश्रम से ही प्राप्त होती है।

परन्तु मायावाद को गलत ढङ्ग से समझने के कारण हम सोचते हैं कि 'गृहस्थाश्रम अर्थात् हम तो गये, इस जाल में हम तो फँस गये।' आप मुझे बताइये कि कौन-सा ऐसा ग्रन्थ है जो गृहस्थाश्रम को कीचड़ बताता है। वैसे तो सभी कुछ माया-जाल है। संन्यासी को भी यह अहङ्कार हो गया तो वह भी उतने ही कीचड़ में है। यदि कोई आदर्श गृहस्थ-जीवन

बिताता हो तो वह संन्यासी से किसी माने में भी कम नहीं, ऐसा हमारे शास्त्रों में बताया गया है। आपने कौशिक नामक तपस्वी, धर्मव्याध और एक आदर्श गृहिणी की कहानी सुनी होगी। तपस्वी ने अपनी तपस्या से, तितिक्षा से कई सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। वह प्रातःकाल तपस्या में लीन रहता। मध्याह्न में भूख लगती तो पास के गाँवों में जाकर भिक्षा प्राप्त कर लेता। इस भाँति कई वर्षों तक वह तपस्या करता रहा। एक बार वह किसी वृक्ष के नीचे तपस्या कर रहा था तो वृक्ष पर बैठे किसी पक्षी ने उसके ऊपर बीट कर दी। तपस्वी को बड़ा क्रोध आया। आँख खोल कर उसने पक्षी की ओर देखा तो पक्षी जलकर राख हो गया। इससे तपस्वी को अपनी तपस्या द्वारा प्राप्त सिद्धियों के कारण कुछ गर्व हो गया। वह तपस्या तो करता रहा; परन्तु उसका अज्ञान व अहङ्कार नहीं गया।

भगवान् ने सोचा कि इसके अहङ्कार को मिटाना चाहिए। एक दिन तपस्वी भिक्षा के लिए गाँव में गया। एक घर के सामने उसने भिक्षा के लिए आवाज लगायी। तीन बार आवाज लगाने पर भी कोई भिक्षा देने नहीं आया। तपस्वी को बड़ा क्रोध आया। यह कौन है जो मुझ जैसे तपस्वी की आवाज तक नहीं सुनता है? उसने जोर से चौथी आवाज लगायी तो वह गृहिणी भिक्षा लेकर उपस्थित हुई। तपस्वी ने भिक्षा लेने से इनकार कर दिया और क्रोध से बोला, 'बताओ, तुमने इतनी देर क्यों कर दी? मैंने तीन-चार बार आवाज लगायी। क्या तुम्हें आवाज नहीं सुनायी दी?' उस गृहिणी ने बड़े शान्त भाव से कहा—'तपस्वी महाशय! तुम मुझे उस चिड़िया के समान न समझना।' ऋषि को बड़ा





आश्चर्य हुआ कि उस समय जङ्गल में मेरे और चिड़िया के अतिरिक्त और कोई भी नहीं था, फिर इस रहस्य का पता इस गृहिणी को कैसे लग गया ? वह पूछता है—'बताओ, तुमको कैसे मालूम हो गया ? तुमने क्या साधना की है ?' गृहिणी ने कहा—'मेरी साधना है पतिदेव की सेवा, मेरे जो सास-ससुर हैं, उनकी सेवा। और तो मैंने न कोई प्राणायाम किया है, न कोई ध्यान किया है, न कोई योग-साधना की है। स्त्री होने के नाते मैं अपने पतिव्रत-धर्म को पूरा करती हूँ। आप के आवाज देते समय मैं पति को सेवा कर रही थी; इसलिए भिक्षा लेकर आने में विलम्ब हो गया।'

उस गृहिणी ने ऋषि को धर्म का रहस्य जानने के लिए धर्मव्याध के पास जाने की सलाह दी। ऋषि ने पहले तो सोचा कि कसाई से क्या ज्ञान मिलेगा ? परन्तु उसे यह अनुभव तो हो ही चुका था कि यह कोई साधारण गृहिणी नहीं है, इसलिए उसका परामर्श मानकर वह कसाई की खोज में निकला। ढूँढते-ढूँढते एक किनारे पर उसका घर मिल गया। कसाई मध्याह्न में अपने अन्तिम ग्राहक निपटा रहा था। कसाई ने कहा—'महाराज जी ! क्या आपको उस स्त्री ने भेजा है ? आप थोड़ी देर रुक जाइए। मैं जरा अपना एक काम पूरा कर के आ जाऊँ।' ऋषि ने अनुभव किया कि यह भी कोई साधारण कसाई नहीं है। मैंने अपने आने की कोई खबर नहीं भेजी थी फिर भी इसे मेरे आने का पहले से ही पता है।

कसाई एक घण्टे बाद लौटा। ऋषि ने पूछा : 'तुम्हारी साधना का क्या रहस्य है ? मेरे आने से पहले ही तुम्हें कैसे पता चल गया कि मैं आ रहा हूँ ?' कसाई ने कहा कि मैं

अपने माँ-बाप की सेवा करता हूँ। सच्चाई से अपना धन्धा करता हूँ। कभी कोई छल-कपट अपने धन्धे में नहीं करता। अपने माता-पिता को प्रत्यक्ष देवता मानकर उनकी सेवा करता हूँ। तब ऋषि को अनुभव हुआ कि भगवत्प्राप्ति या आध्यात्मिक साधना की कोई विशेष प्रविधि नहीं है, अभ्यास की कोई विशेष प्रक्रिया नहीं है। वह जीवन का एक गुण है। तकनीक के रूप में आप नाक पकड़ें, प्राणायाम करें, ध्यान करें; परन्तु अन्तर में अपवित्रता हो, विषमता हो तो सारी तकनीक व्यर्थ है। इससे जीवन में एक अन्तर्द्वन्द्व आ जाता है। इसलिए आपका सम्पूर्ण जीवन ही एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति बन जाना चाहिए। आपके जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को भगवद्-सागर की ओर जाने वाला एक प्रवाह बन जाना चाहिए और जो-जो काम आप कर रहे हैं, उन्हें अपनी उपासना का स्वरूप बना लेना चाहिए।

विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य-धर्म को निभाना चाहिए। गृहस्थाश्रम में दाम्पत्य जीवन के धर्म का परिपूर्ण और आदर्श रूप से पालन करना चाहिए। इसी तरह अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए भगवान् को रिझाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस दृष्टि से सभी चारों आश्रम समान रूप से पवित्र हैं। इन में गृहस्थाश्रम इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि वह शेष तीन आश्रमों को सहयोग देने में समर्थ है। 'हम गृहस्थ में आ गये तो कुण्डा हो गया'—यह गलत विचार है। गृहस्थ और गृहिणी का संयोग आध्यात्मिक है, पवित्र है। घर की तरफ गृहस्थ की यह दृष्टि होनी चाहिए कि इसका स्वामी परमेश्वर है। पूरे ब्रह्माण्ड में यह घर पवित्र है, वैकुण्ठ है, कैलास है, समस्त तीर्थों का सङ्गम है—ऐसा भाव करके काशी

व ऋषिकेश कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। यदि यह दृष्टि हो जाय तब घर का प्रत्येक कर्म भगवद्-सेवा बन जायगा। घर में जो भोजन बनेगा, वह जिह्वा के लिए न होकर भगवान् का भोग लगाने के लिए होगा।

मैं कहता हूँ कि जब आप वास्तुविद् से मकान बनाने की योजना बनवाते हैं तो सब से पहले यह सोचें कि घर के अन्दर मन्दिर किस स्थान पर बनेगा ? स्नानागार, रसोईघर आदि सभी इस पूजागृह को केन्द्र बनाकर ही बनाने चाहिएँ। भगवान् को आपके जीवन में केन्द्रीय स्थान मिलना चाहिए। प्रातःकाल उठकर पति-पत्नी दोनों को भगवत्पूजन अवश्य करना चाहिए। अपने-अपने इष्टदेव की आराधना कर सकते हैं; परन्तु दोनों को मिलकर करनी चाहिए। उसके बाद ही उस दिन के दूसरे कार्य प्रारम्भ होने चाहिए।

दूसरे, समाज में धार्मिक अनुष्ठान का स्वरूप क्या हो ? हम जो उपार्जन करें, उसका एक अंश अपने लिए रखकर बाकी का परोपकार में खर्च करें। जो लाचार हैं, दुःख और सङ्कट में हैं, उनका दुःख निवारण करने में उसका उपयोग करें। इस दिशा में बढ़ने के लिए पति-पत्नी को, एक-दूसरे को प्रेरणा देनी चाहिए। हमारी संस्कृति में पञ्च-महायज्ञ की कल्पना थी। उसका क्या अर्थ था ? उसका यह तात्पर्य था कि समाज से हमने जो पाया है, वह हमारे ऊपर एक ऋण है। उसको लौटाना हमारे लिए अनिवार्य है। हमारे ऋषियों ने तपस्या करके अनुभव द्वारा अनेकों ग्रन्थों की रचना की। हम उनका अध्ययन-अध्यापन करें। यह ऋषि-यज्ञ है।

इसी तरह विश्व का कल्याण करने के लिए सूक्ष्म रूप से

अनेकों देवता कार्यरत हैं। उनको सन्तुष्ट करने के लिए हम हवन करें। यह देव-यज्ञ है। इसी तरह पितृ-यज्ञ है। हमने यह शरीर अपने माता-पिता द्वारा प्राप्त किया है। माता-पिता ने हमारी सेवा करके हमारी जीवन-यात्रा को आगे बढ़ाया है। अतः हम भी अपनी वंश परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उनकी सेवा करें।

[श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम में दिया गया प्रवचन]

बाल-भारती : विश्व-भारती

मैं यहाँ जम्मू में दिव्य जीवन सङ्घ के अध्यक्ष या किसी अधिकारी के रूप में नहीं; वरन् एक परम ब्रह्मज्ञानी, ईश्वर-भक्त सन्त का सन्देशवाहक, चरण-किङ्कर बनकर आपके सामने आया हूँ -- ऐसे सन्देश को लेकर जिसने इस बीसवीं सदी में बड़ी भारी जन-जाग्रति पैदा की है। जो कुछ कौल साहब ने इस व्यक्ति के विषय में कहा है, वह इस कारण कि अच्छे आदमी सब जगह अच्छा ही देखते हैं, किसी की बुराई उनकी दृष्टि में नहीं आती है। कृष्ण भगवान् ने एक बार दुर्योधन से कहा कि जाकर किसी सज्जन आदमी को ढूँढ़ लाओ। उसी तरह युधिष्ठिर से कहा किसी एक दुर्जन आदमी को ढूँढ़कर लाओ। दोनों सुबह ढूँढ़ने के लिए निकलकर शाम को वापस लौट आये। कृष्ण भगवान् ने जब युधिष्ठिर से पूछा—'क्यों भाई, क्या बात है ? अकेले ही क्यों वापस आये हो ?' तो युधिष्ठिर ने कहा—'मुझे तो बुरा कोई भी नहीं दिखाई दिया। सब में कुछ-न-कुछ भलाई ही दीखी और अन्त में मैंने देखा कि मुझमें ही कितने अवगुण हैं। इसलिए मुझसे बुरा कौन है ?' इसमे उलटा जवाब देते हुए दुर्योधन ने कहा-'मैं जहाँ भी गया, सब जगह दुर्जन ही मिले। इसलिए मैं स्वयं ही आ गया हूँ।'

किसी के हाथ से सुगन्ध आ रही हो तो हो सकता है कि उसने किसी सुगन्धित साबुन से हाथ धोये होंगे, प्रातः पूजा करते समय अगरबत्ती जलायी होगी या भगवान् को लगाने के लिए चन्दन घिसा होगा। केसर और कपूर के सम्पर्क में आने से हाथ में उस सुगन्ध का आना स्वाभाविक ही है। पाँच-दस मिनट किसी अच्छी चीज के सम्पर्क में आने के कारण हाथ की यह हालत हो तो चौबीस वर्ष एक महान् व्यक्ति के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य जिसे मिला हो तो यह उनका (गुरुदेव स्वामी शिवानन्द) ही प्रभाव है। उनमें जो महानता थी, उसे इनसान में पाना मुश्किल है। यह मेरा ही कहना नहीं है, बल्कि जो भी कभी उनके सम्पर्क में आया उसका यही कहना है कि इस तरह के दिल-दिमाग का इनसान खोजना मुश्किल है। गुरुदेव के बाल्यकाल के एक मित्र हैं। वे बड़े विद्वान् और योगी हैं—कवियोगी शुद्धानन्द भारती। पच्चीस वर्ष तक पाण्डेचेरी में वे श्री अरविन्द के साथी बन कर साधना करते रहे हैं। वे कहते थे कि स्वामी शिवानन्द आपादमस्तक हृदय रूप ही हैं (*Swami Sivananda was all heart from head to foot*)। ऐसे व्यक्ति के सान्निध्य में जीवन बिताने और सेवा करने का सौभाग्य अपने को मिला है।

आप बहुत सुन्दर कार्य कर रहे हैं। गुरु महाराज जब भी जनता से मिलते थे, विशेषकर जब नव-युवकों से मिलते थे तो पूछते थे—'ओ जी! तुम क्या बनने की सोच रहे हो?' युवकों में कोई जवाब देता था—'स्वामी जी! मैं इञ्जीनियर बनना चाहता हूँ', कोई कहता 'मैं पाइलेट आफीसर (विमान-चालक) बनना चाहता हूँ।' कुछ ऐसे होते थे जिनके मन में

अभी तक कुछ निश्चय नहीं बना होता या उनमें जवाब देने का साहस नहीं होता था। वे चुप रह जाते। उस समय गुरु महाराज कहते थे 'ओ जी ! डाक्टर या अध्यापक बनो, वकील या पुलिस वाला नहीं।' (*Become a doctor or a teacher. Don't become a lawyer or a policeman)* पुलिस वाले में हिंसात्मक प्रवृत्ति आ जाती है और वकील के धन्धे में झूट-कपट, हेर-फेर करना, चार-सौ-बीसी करना आ जाता है। वे सत्य की हत्या करते हैं। वे सत्यवादी को भी झूठ बोलने के लिए प्रेरित करते हैं। मुवक्किल (वादार्थी) यदि सच भी कह रहा हो तो वकील उसे समझाता है कि यथार्थ को छोड़ो, कहचरी में यह नहीं चलता। इसी तरह पुलिस वाला दिल का कठोर हो जाता है। इसलिए गुरु महाराज का उपदेश रहा कि पुलिस और वकील के धन्धे में मत जाओ। वह शिक्षक बनने को इसलिए कहते थे कि उसमें करुणा और सहानुभूति होती है।

एक व्यक्ति जीवन में उसका बाल्यकाल एक महत्वपूर्ण अवस्था है। वह समय आगे के जीवन के लिए तमाम रूपरेखा देने का है। आगे जो हमारा जीवन होगा, उसका निर्णय बचपन में होता है। जिस तरह से उनकी ट्रेनिङ्ग, शिक्षण बचपन में हो गया, उसी तरह आगे का विकास होता है। उनके अन्तःकरण को बाल्यकाल में जो स्वरूप आप देते हैं, उनका व्यक्तित्व और स्वभाव उसी रूपरेखा में बनता है। वह एक बुनियादी अवस्था है। बचपन की इस अवस्था की एक खूबी यह भी है कि उस समय बच्चा एक कोरा कागज जैसा रहता है। उसमें कोई पूर्व धारणा नहीं होती, इसलिए आप उसे जो बनाना चाहें, बना सकते हैं। बाद में वह स्वयं विचार

करने लगता है, अपनी राय बना लेता है। तब नया प्रभाव डालना इतना आसान नहीं रह जाता है जितना बाल्यकाल में रहता है।

तुलनात्मक दृष्टि से बालकों का स्वभाव निर्मल होता है। हमारी लापरवाही से स्वभाव काला भी बन सकता है तथा सतर्कता से सफेद व और भी निर्मल बन सकता है। महान् आदर्शों के जो बीज हम बाल्यकाल में ही बो देते हैं, वे भविष्य में प्रस्फुटित होकर मानव-जीवन के क्रिया-कलापों को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारण बन जाते हैं। आपने यह विलक्षण कहावत सुनी होगी कि शिशु मानव का पिता है—(*The child is father of the man*)। जैसे माता-पिता से बच्चा जन्म लेता है, उसी तरह शैशव से बड़ा व्यक्ति जन्म लेता है। आगे का जीवन नौनिहाल अवस्था की व्याख्या मात्र है। जैसे ब्रह्मसूत्र लिख लिया, आगे उसी पर भाष्य होते चले जायेंगे। इस अवस्था में उनकी सेवा करने का जो अवसर आपको प्राप्त हुआ है, उसका गम्भीर अर्थ है। मैं जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ कहता हूँ कि बाल-भारती भविष्य भारती है।

बच्चों के शिक्षण के इस कार्य में बड़ा आदमी खिन्न होता है, हताश होता है; क्योंकि बच्चे तूफानी होते हैं. जिद्दी होते हैं। उनका स्वभाव विचित्र होता है। अलग-अलग परिवारों से, पृष्ठभूमि से वे आते हैं। हर एक बच्चे की अपनी प्रकृति होती है। उनको सँभालने में कभी-कभी बड़ा सिरदर्द होता है। लेकिन दूसरी दृष्टि से इसको देखना चाहिए। फूल को हम देखते हैं तो वह पहले कली के रूप में था जिसमें न वह रङ्ग-रूप था, न वह खूबसूरती; लेकिन उस कली को जब

खाद-पानी मिला, धूप से उसकी रक्षा की गयी तो धीरे-धीरे उसमें छिपी क्षमताएँ प्रगट होने लगीं। उसमें रङ्ग आता है, खूबसूरती आती है, कोमलता आती है। एक छोटी-सी कली पूर्ण विकसित पुष्प बनने की प्रक्रिया में होती है। बच्चा भी पूर्ण विकसित होने वाले कुसुम बनने की प्रक्रिया में एक कली है और आप हैं उसके माली। आप उसकी बाहरी आकृति पर, उसकी शैतानियों पर ध्यान नहीं देंगे। इस बात पर नजर रखेंगे कि बालक के अन्दर एक छिपी हुई प्रतिभा है। उसका महत्व उसके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप में नहीं है; बल्कि इस सब के पीछे छिपा हुआ एक आत्म-तत्त्व है और उसमें एक क्षमता है। उसमें क्षमा, दया, उदारता है। इसलिए अध्यापक-अध्यापिकाएँ बालकों के विकास के लिए इस दृष्टि से कुछ-न-कुछ प्रयत्न करें तो यह उनके लिए सौभाग्य की बात होगी।

आप जो इतिहास पढ़ायेंगे, भूगोल पढ़ायेंगे, इसे वे बाद में सब भूल जायेंगे। लेकिन यदि आप उनको कुछ आदर्शवाद के बारे में, कुछ उनके ही बारे में—कि तुम दिव्य आत्म-तत्त्व हो—ख्याल दिला देंगे, स्वयं के बारे में उनको जाग्रत कर देंगे तो उसे वे कभी नहीं भूलेंगे। अतः जब भी आप कक्षा में होते हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि आपके सामने जो बैठे हैं, वे नाम हैं या संख्या हैं, मुसीबत हैं। यह सोचें कि वे सब निर्मित होते हुए परम तत्त्व हैं (*They all are God in the making*)। वे सब विकसित होते हुए सौन्दर्य हैं (*They all are the beauty in the process of unfoldment*)। ये बच्चे साधारण नहीं हैं। इनके अन्दर एक शेक्सपियर है, बाल्मीकि है, झाँसी की रानी है, एक रबीन्द्रनाथ टैगोर है,

करने लगता है, अपनी राय बना लेता है। तब नया प्रभाव डालना इतना आसान नहीं रह जाता है जितना बाल्यकाल में रहता है।

तुलनात्मक दृष्टि से बालकों का स्वभाव निर्मल होता है। हमारी लापरवाही से स्वभाव काला भी बन सकता है तथा सतर्कता से सफेद व और भी निर्मल बन सकता है। महान् आदर्शों के जो बीज हम बाल्यकाल में ही बो देते हैं, वे भविष्य में प्रस्फुटित होकर मानव-जीवन के क्रिया-कलापों को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारण बन जाते हैं। आपने यह विलक्षण कहावत सुनी होगी कि शिशु मानव का पिता है—(*The child is father of the man*)। जैसे माता-पिता से बच्चा जन्म लेता है, उसी तरह शैशव से बड़ा व्यक्ति जन्म लेता है। आगे का जीवन नौनिहाल अवस्था की व्याख्या मात्र है। जैसे ब्रह्मसूत्र लिख लिया, आगे उसी पर भाष्य होते चले जायेंगे। इस अवस्था में उनकी सेवा करने का जो अवसर आपको प्राप्त हुआ है, उसका गम्भीर अर्थ है। मैं जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ कहता हूँ कि बाल-भारती भविष्य भारती है।

बच्चों के शिक्षण के इस कार्य में बड़ा आदमी खिन्न होता है, हताश होता है; क्योंकि बच्चे तूफानी होते हैं, जिद्दी होते हैं। उनका स्वभाव विचित्र होता है। अलग-अलग परिवारों से, पृष्ठभूमि से वे आते हैं। हर एक बच्चे की अपनी प्रकृति होती है। उनको सँभालने में कभी-कभी बड़ा सिरदर्द होता है। लेकिन दूसरी दृष्टि से इसको देखना चाहिए। फूल को हम देखते हैं तो वह पहले कली के रूप में था जिसमें न वह रङ्ग-रूप था, न वह खूबसूरती; लेकिन उस कली को जब

खाद-पानी मिला, धूप से उसकी रक्षा की गयी तो धीरे-धीरे उसमें छिपी क्षमताएँ प्रगट होने लगीं। उसमें रङ्ग आता है, खूबसूरती आती है, कोमलता आती है। एक छोटी-सी कली पूर्ण विकसित पुष्प बनने की प्रक्रिया में होती है। बच्चा भी पूर्ण विकसित होने वाले कुसुम बनने की प्रक्रिया में एक कली है और आप हैं उसके माली। आप उसकी बाहरी आकृति पर, उसकी शैतानियों पर ध्यान नहीं देंगे। इस बात पर नजर रखेंगे कि बालक के अन्दर एक छिपी हुई प्रतिभा है। उसका महत्व उसके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप में नहीं है; बल्कि इस सब के पीछे छिपा हुआ एक आत्म-तत्त्व है और उसमें एक क्षमता है। उसमें क्षमा, दया, उदारता है। इसलिए अध्यापक-अध्यापिकाएँ बालकों के विकास के लिए इस दृष्टि से कुछ-न-कुछ प्रयत्न करें तो यह उनके लिए सौभाग्य की बात होगी।

आप जो इतिहास पढ़ायेंगे, भूगोल पढ़ायेंगे, इसे वे बाद में सब भूल जायेंगे। लेकिन यदि आप उनको कुछ आदर्शवाद के बारे में, कुछ उनके ही बारे में—कि तुम दिव्य आत्म-तत्त्व हो—ख्याल दिला देंगे, स्वयं के बारे में उनको जाग्रत कर देंगे तो उसे वे कभी नहीं भूलेंगे। अतः जब भी आप कक्षा में होते हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि आपके सामने जो बैठे हैं, वे नाम हैं या संख्या हैं, मुसीबत हैं। यह सोचें कि वे सब निर्मित होते हुए परम तत्त्व हैं (*They all are God in the making*)। वे सब विकसित होते हुए सौन्दर्य हैं (*They all are the beauty in the process of unfoldment*)। ये बच्चे साधारण नहीं हैं। इनके अन्दर एक शेक्सपियर है, बाल्मीकि है, झाँसी की रानी है, एक रबीन्द्रनाथ टैगोर है,

एक महात्मा गान्धी है। क्या आप इस बारे में जानते हैं कि कल जाकर ये क्या बनेंगे ?

आपके हाथ में कई ऐसे बालक भी होंगे जिन्हें राष्ट्रीय जीवन में बहुत बड़ा मिशन पूरा करना होगा। जब विवेकानन्द को उनके शिक्षक ने पढ़ाया होगा तब उन्हें क्या पता था कि ये एक दिन विश्व-विख्यात व्यक्ति बनेंगे, विश्व को हिला देंगे। इन बच्चों के बीच में ही कल के नेता निहित हैं। इस दृष्टिकोण से बच्चों को निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार जो शिक्षा देनी है, उसे तो आप देंगे ही; इसके साथ ही आपको सोचना चाहिए कि बालक के अन्दर जो सुप्त दिव्यता है, उसका जो निज-स्वरूप है, उसको मैं किस तरह से स्पर्श करूँ ? यह सबसे बड़ी सेवा है कि आप बालक के इस 'स्व' को जाग्रत करने में सहायक बन सकें। इस सेवा को करने के लिए आपको कोशिश करनी पड़ेगी।

आप लोग कह सकते हैं कि हमारा तो इतना सख्त पाठ्यक्रम है कि उसी में हमारा सारा समय चला जाता है, उसी को हम पूरा नहीं कर पाते। कभी-कभी तो हमें इसके लिए स्पेशल क्लास लेनी पड़ती है; परन्तु यह काम जो मैं आपके सामने रख रहा हूँ, वह इतना महत्व का है कि इसके लिए बाकी सब कामों की उपेक्षा की जा सकती है। आपकी जो सेक्युलर एजूकेशन (लौकिक शिक्षा) है, उसका महत्व दूसरे नम्बर पर है; परन्तु जिस शिक्षा की बात मैं कर रहा हूँ, वह तो तत्काल देने की है। ये बच्चे तो आपके हाथ से जा रहे हैं। फिर मौका निकल जायगा। इस कार्य में चाहे जो विघ्न-बाधाएँ हों, आपको यह करना ही है। कैसे भी करके यह अन्दर की आध्यात्मिक जाग्रति, अन्दर की यह नैतिक दृष्टि,

एक आकांक्षा उनके अन्दर जाग्रत करना आपका महत्वपूर्ण अनिवार्य कर्त्तव्य है। यदि आपने इस शिक्षा की उपेक्षा कर दी तो आपने बालक को कुछ भी नहीं दिया। आपने तथ्यों को उसके दिमाग में भर कर, जिन्हें वह एक-न-एक दिन भूल ही जायगा, उसे बोझिल बना दिया है; परन्तु यदि उसके अन्दर आप कुछ आदर्शवाद पैदा कर पाये तो वही आपका असली पुरस्कार होगा।

इसलिए मैं एक छोटा-सा सुझाव देता हूँ। गुरु महाराज ने इस बीसवीं शताब्दी में जाग्रति लाने के लिए ज्ञान-यज्ञ अपनाया। मानव को अध्यात्म की ओर किस प्रकार प्रेरित किया जाय, इस बात की तलाश को ही उन्होंने अपना मुख्य मिशन बनाया। इस कार्य के लिए उन्होंने लगभग दो सौ पुस्तकों को लिखा। आत्म-विकास के बारे में जितने भी विषय हैं—योग, वेदान्त, हठयोग, व्यायाम, संस्कृति, धर्म, औषध आदि—उन सबको उन्होंने स्पर्श किया। इतनी पुस्तकों को देखकर लोग पूछते थे, 'स्वामी जी ! इतने व्यस्त जीवन में आपको इतनी अधिक पुस्तकों को लिखने का समय कब मिला ?' लोग सोचते थे कि स्वामी जी घण्टों-घण्टों बैठकर लिखते होंगे; परन्तु उन्हें तो कई काम करने होते थे। लोगों से मिलना होता था, रोगियों की सेवा करनी होती थी। स्वामी जी ने बताया—'मैंने लिखने में कभी भी अधिक परिश्रम नहीं किया। मैं कभी घण्टों तक लिखने नहीं बैठा। मेरा एक सिस्टम बना रखा है। चौबीस घण्टे के दैनिक कार्यक्रम में जिस तरह नहाना, दतुवन करना, भोजन करना, सेवा करना आदि कार्य हैं, उसी तरह अपने नित्य के कार्यक्रम में लिखना भी मैंने एक आइटम (विषय) मान रखा है। दिन में चार

बार का समय मैंने इसके लिए नियत कर रखा है। जिस तरह जब स्नान का समय होता है तो मैं स्नानागार में होता हूँ, पूजा के समय पूजा-गृह में होता हूँ; इसी तरह लिखने का समय होता है तो मैं कलम उठाता हूँ और लिखने बैठ जाता हूँ।'

लोग पूछते कि स्वामी जी ! आपने इतना ऊँचा साहित्य लिखा है कि उसके लिए कुछ तो प्रेरणा होनी चाहिए। लोगों से बात करते-करते दिमाग थक जाता होगा। स्वामी जी का जवाब होता था कि हो सकता है कि लोगों को कुछ प्रेरणा की आवश्यकता पड़ती हो; परन्तु अपने साथ ऐसा नहीं रहा। मनोवैज्ञानिकों को दिमाग की इस स्थिति की शोध करनी चाहिए। यह अद्भुत खूबी है कि जब, जिस काम में वे लगते तो शत-प्रतिशत उसी में डूबे रहते। एक काम पूरा हो गया, दूसरा काम आ गया तो पहले काम को एकदम शत-प्रतिशत भूल जाते थे। उनके काम में कोई विक्षेप जैसी चीज थी ही नहीं। यदि लिखने के लिए ४५ मिनट का समय होता था तो ४६वाँ मिनट नहीं हो सकता था। आश्रम का काम जब बहुत अधिक बढ़ गया और उम्र भी ज्यादा होने लगी तो चार के बजाय तीन बार लिखने का निश्चय किया। जीवन के आखिरी दिनों में १५-१५ मिनट के लिए दो बार प्रतिदिन लिखते रहे। इस तरह रोज के लिखे को संग्रहीत करके २०० किताबें बन गयीं।

आप प्रतिदिन स्कूल आते हैं। मेरा एक व्यावहारिक सुझाव है। आपका एक पीरियड ३५ मिनट का होता होगा। आप आज से ही तय कर लें कि बच्चों को शिक्षा देने का आपका पीरियड ३० मिनट का है। बाकी आखिरी के पाँच

मिनट आपके और छात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए हैं। यह जीवात्मा मानव-शरीर धारण करके छात्र के रूप में आपके सामने बैठा है। वह दिव्यता है और इन पाँच मिनटों में आप शिक्षकों की दिव्यता का मेल छात्रों की दिव्यता से होना चाहिए। ३० मिनट पूरे हुए कि बच्चों से कहना चाहिए कि पुस्तकें बन्द करो, वह काम हो गया। अब और बातें करेंगे। इन अन्तिम पाँच मिनटों में धर्म व संस्कृति के बारे में, महा-पुरुषों के बारे में या सत्य, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, उदारता आदि के बारे में कोई महान् प्रेरणादायी बात बतानी चाहिए। इस तरह एक दिन में यदि पाँच पीरियड होते हैं तो २५ मिनट का उत्तम शिक्षण उन्हें अनायास ही मिल जाता है। बिना किसी आडम्बर के, बिना किसी योजना के आपके तो पाँच मिनट लगे; परन्तु बालक को २५ मिनट का जीवन के लिए प्रेरणादायी शिक्षण मिल गया। इस तरह उनका संस्कार बनता जायगा।

इस तरह यदि शिक्षण देना हो तो आप लोगों को व्यक्तिगत रूप से कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा। घर में आपको स्वयं भी सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ेगा। सर्वोदय साहित्य है, गीता प्रेस, गोरखपुर का साहित्य है. हितोपदेश है, विदुर नीति है। इस साहित्य को आपको पढ़ना पड़ेगा। पाँच मिनट अगर बच्चों से बात करनी है तो आधा घण्टा आपको स्वयं भी घर पर शिक्षण लेना पड़ेगा। इस तरह उनका असली शिक्षण होगा जिससे उनके अन्दर जो कुछ है, उसका विकास हो सकेगा। जो सूचनाएँ आप उनकी खोपड़ी में भरेंगे, वह तो सेक्युलर एजूकेशन (लौकिक शिक्षा) है। परीक्षा के समय प्रश्नों के उत्तर देने के लिए उनको सूचनाएँ

देना अलग बात है; परन्तु उनसे बच्चों के चरित्र का निर्माण तो नहीं होगा। उनके अन्दर कोई रूपान्तरण तो नहीं होगा।

इसके साथ ही बच्चों के माँ-बापों के साथ भी सम्पर्क रखने की आवश्यकता है। अब यह आपके लिए कितना व्यावहारिक है, मैं नहीं कह सकता। जो पाँच मिनट का असली शिक्षण आप बच्चों को देंगे, उसमें उनके माँ-बाप का सहयोग भी होना चाहिए। घर पर भी पाँच-सात मिनट का प्रेरणादायी शिक्षण बच्चों को मिलना चाहिए। इस तरह छात्र की रक्षा के जीवन और घर के जीवन में एक समन्वय होना चाहिए। हर स्कूल में पैरेन्ट्स-टीचर्स ऐसोसियेशन होनी चाहिए जिसके माध्यम से महीने-दो-महीने में अध्यापक व बच्चों के माता-पिता आपस में मिल सकें और बच्चों की समस्याओं पर परामर्श कर सकें।

सब से अधिक प्रबल और सफल शिक्षण तो स्वयं आपका जीवनादर्श है। आपके बोलने का नहीं, बल्कि आप जो हैं, उसका प्रभाव सब से अधिक होता है। बोल कर नहीं बल्कि 'होकर' शिक्षण दो—(*Teach not by saying but teach by being*)। बच्चों को आप जो बनाना चाहते हैं, स्वयं वैसा बनकर उनको दिखाएँ। यह बात शिक्षकों और बच्चों के अभिभावकों दोनों के लिए आवश्यक है और आखिरी बात यह है कि बच्चे आपके लिए परमात्मस्वरूप हैं। आपकी भूमिका उपासक की, साधक की है।

[५-३-७५ को शिक्षकों के बीच दिया गया प्रवचन]

हमारा स्वरूप : दिव्यता

आप रूप-रहित अविनाशी, अमर आत्मा हैं। आप ऐसी चीज हैं जिसको हथियार घायल नहीं कर सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगा नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता। ऐसा कभी नहीं हुआ कि आप न रहे हों। आप अनादि हैं। आपके लिए न कोई आदि है, न कोई अन्त है। आपके लिए न कोई व्याधि है, न दुःख है और न कोई कष्ट ही है। आपके लिए कोई कलङ्क नहीं है। आप तो नित्य शुद्ध हैं। आपके अन्दर कोई कमी नहीं है। आपका असली स्वरूप एक रोशनी है, यह आपको समझना चाहिए। आपका असली स्वरूप यह हड्डी-माँस का पिञ्जरा,—जिसको हम शरीर कहते हैं, जिसमें हाथ हैं, पैर हैं —नहीं है। यह आपका असली स्वरूप नहीं है।

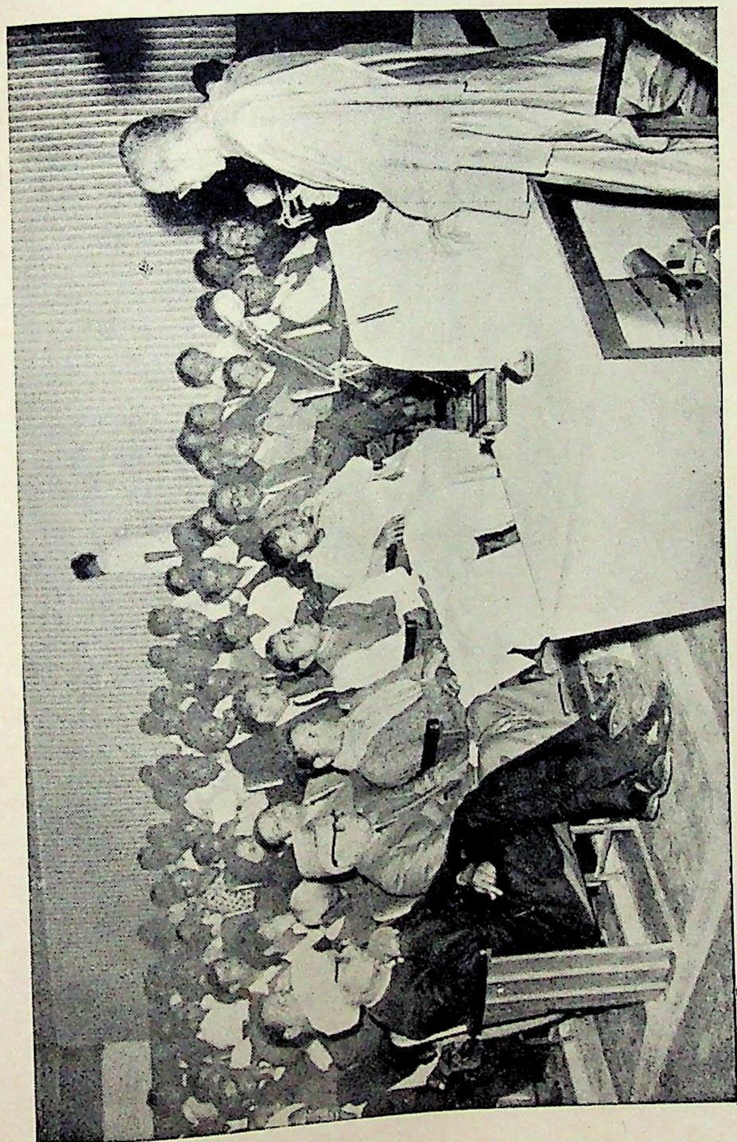
आप एक पक्षी के रूप में हैं, बहुत सुन्दर गाने वाले पक्षी के रूप में हैं। यह पक्षी पिञ्जरे के अन्दर अवश्य है, इधर-उधर उड़ नहीं सकता। परन्तु पिञ्जरे में जीवन नहीं होता; भले ही वह पिञ्जरा सोने या चाँदी का क्यों न बना हुआ हो। पक्षी गा सकता है। उसको देखते ही आदमी को आनन्द आता है। लेकिन पिञ्जरे में तो कोई जान नहीं होती, पिञ्जरे के अन्दर रखे पक्षी में जान है। इसी तरह इस शरीर के अन्दर आप हैं। वह जो आपका स्वरूप है, एक दिव्य रोशनी है,

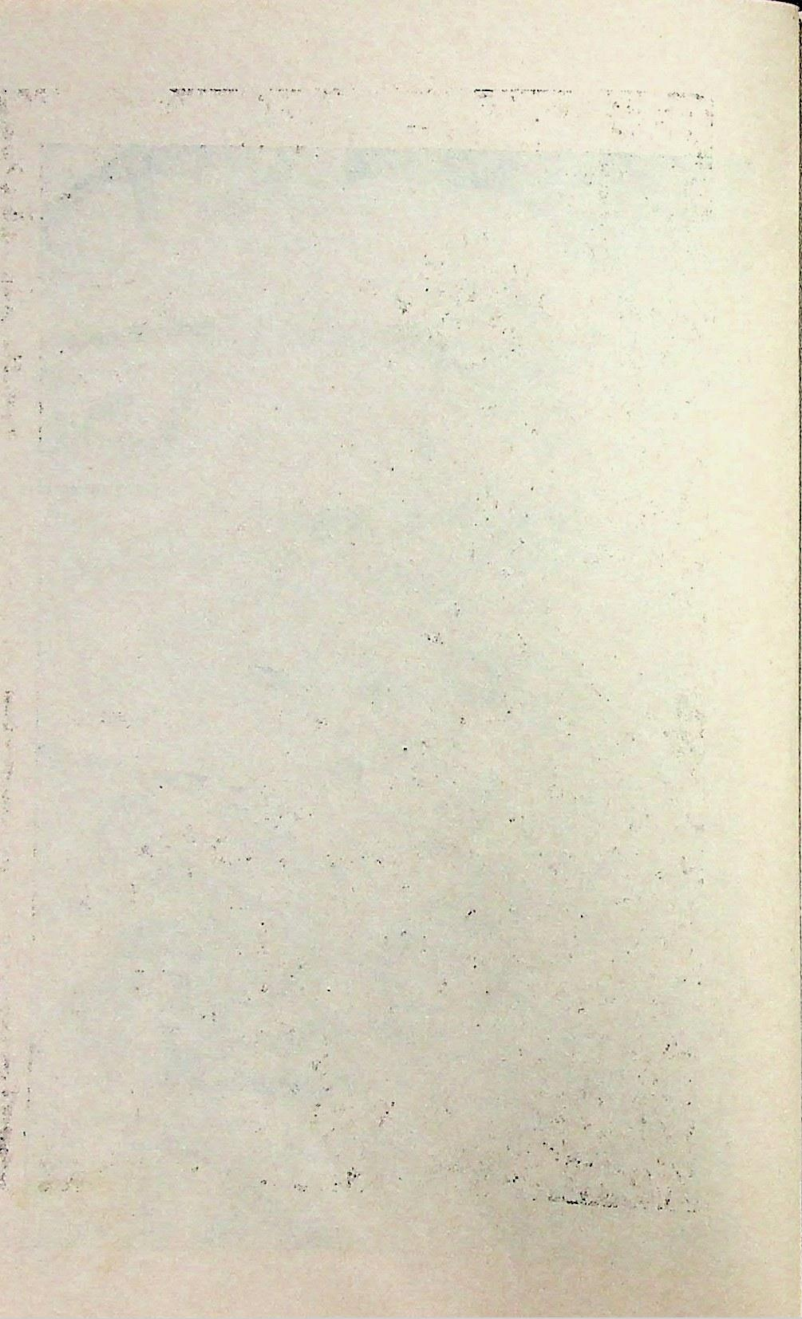
एक ज्योति है। वहाँ दिन में भी ज्योति है, रात में भी ज्योति है। बाहर भले ही अँधियारा रहता हो; परन्तु आपके अन्दर तो ज्योति हर समय है। आप ज्ञानस्वरूप हैं।

आप शान्तिस्वरूप हैं, साधारण शान्ति नहीं हैं। शहर का आदमी जब झञ्झटों से परेशान हो जाता है तो कहता है कि हम काश्मीर जायेंगे, गुलमर्ग जायेंगे, बद्रीनारायण जाकर शान्ति प्राप्त करेंगे। वह निस्तब्धता की शान्ति है, लोगों के कम होने से शान्ति है। लेकिन वह असली शान्ति नहीं है, वह चिरस्थायी शान्ति नहीं है। वहाँ पर यदि दो गुण्डे बटुआ छीनने के लिए आ गये तो वहाँ भी शान्ति गायब हो जाती है। इसलिए वह ऐसी शान्ति नहीं है जो हर परिस्थिति और हर वातावरण में बनी रह सके।

परिपूर्ण शान्ति बाहर से नहीं आ सकती। बाहर से प्राप्त शान्ति तो एक प्रकार का आराम है। वह विश्रान्ति है, शान्ति नहीं। एक ऐसी शान्ति है जिसको कोई भी चीज हिला नहीं सकती। वह शान्ति कहाँ है ? यहाँ है, अन्तर में है। वह आत्मा में है। और आत्मा के माने क्या हैं ? आत्मा माने मैं खुद। आत्मा संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ है मैं स्वयं। ऐसा नहीं है कि मेरे अन्दर आत्मा है, मैं स्वयं आत्मा हूँ। मैं पुरुष नहीं हूँ। मैं स्त्री नहीं हूँ। मेरा रूप न ऐसा है, न वैसा है। जब मैं शरीर ही नहीं हूँ तो रूप का प्रश्न ही कहाँ उठता है? मैं मन और बुद्धि से परे, नाम और रूप से परे आत्मा हूँ।

अब देखो ! यह लोटा है। इसमें मधु भरा हुआ है। 'मधु भरा हुआ है' का अर्थ क्या है ? अर्थात् इसमें मिठास भरी हुई





है; क्योंकि मधु का अर्थ मिठास है। इसी तरह आत्मा का अर्थ शान्ति है। जब आप कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ तो उसके माने हैं कि मैं शान्ति हूँ। मुझे शान्ति के लिए इधर-उधर जाने को, खोज करने की आवश्यकता नहीं है। मैं आत्मा नहीं हूँ; बल्कि बहादुर हूँ, रेड्डी हूँ, जानकी हूँ, सीता हूँ,—इस गलत विचार को छोड़ देना चाहिए। जो हम हैं, उसको तो भूल जाते हैं और जो हम नहीं हैं, रात-दिन उसी का चिन्तन करते रहते हैं। इससे हमारे अन्दर जो आनन्द है, उससे हम वञ्चित हो जाते हैं। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ—यह ग़लत ख्याल है। मैं कोई नहीं हूँ और कहीं का भी नहीं हूँ। मैं सब चीजों से परे, देशकाल से परे हूँ। ऐसा नहीं है कि मैं अभी हूँ और पहले नहीं रहा। मैं तो अनादि और अनन्त हूँ। मैं तो हमेशा से रहा हूँ और हजारों साल बाद भी रहने वाला हूँ।

आत्मा परिपूर्ण है, उसमें कोई कमी नहीं है। उसको पूरा करने के लिए इधर-उधर से लाकर कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। मैं शान्ति हूँ, आनन्द हूँ, परिपूर्ण हूँ, दिव्य हूँ—यह सत्य है। इसके विपरीत विचार असत्य है, अज्ञान है। यह संसार अज्ञान के कारण रो रहा है। सारी अशान्ति का कारण है अज्ञान। अज्ञान हमें हमारी वास्तविकता से दूर रखता है।

इसलिए हमें सदा रोशनी का अनुभव करते रहना चाहिए। उसी की स्थापना करनी चाहिए। जो असत् है, गलत विचार है, उसको मन से हटा देना चाहिए। आज तक हम अज्ञान में रहते रहे हैं। बचपन से माता-पिता ने हमें कह दिया था कि तुम यह हो, तुम वह हो। तो हम बचपन से ही

अज्ञान में पलते आये हैं। बाहर सब देखने के लिए हमारी आँखें हैं; परन्तु अन्दर से अन्धे हैं। हमारी बुद्धि के अन्दर अन्धापन है। हमारे मन के अन्दर अन्धापन है। लेकिन ज्ञान की वार्त्ता भगवान् आपके पास ले आया है।

हमारे भारत की महानता यह है, उसका बड़प्पन यह है, उसकी विशेषता यह है कि इसके धर्म में यही बात समझायी गयी है कि अज्ञान के अन्धकार को मिटाने के लिए ही वेद, गीता आदि की रचना हुई है। वेदान्त के उस युग में जब समाचार-पत्र नहीं रहा, टेलीफोन (दूरभाष) नहीं रहा, सन्तों की एक अटूट परम्परा चली आयी है। गुरु अपने शिष्य को सिखाता है, फिर वह आगे के शिष्य को दीक्षित करता है। इस तरह की गुरु-शिष्य परम्परा के कारण ही ज्ञान का हीरा अब तक बचता चला आया है। कई भीड़ आयीं हमारे ऊपर, कई आपत्तियाँ आयीं; परन्तु सब के बीच में सन्तों ने, ज्ञानियों ने तपस्वियों ने इस ज्ञान की रक्षा की है और हम तक पहुँचाया है।

आपका यह सौभाग्य है कि भगवान् की ज्योति आप तक पहुँची है जिससे आप बिलकुल नये आदमी हो सकें। आप तो बिलकुल नये हैं। आपका एक नया जन्म हो गया। जो बात मैं आप से कह रहा हूँ, ऐसी नहीं है कि आप उसे पहले से न जानते रहे हों। आपने भी गीता पढ़ी होगी, शुकसागर पढ़ा होगा। लेकिन पोथी पढ़ ली तो मैं अलग, वह अलग—वही पुराना भाव पैदा होने लगता है; क्योंकि ज्ञान तो पोथी में रह जाता है, पढ़ते समय वह थोड़ा जाग्रत होता है, पुनः अज्ञान की निद्रा आ जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यह

प्रार्थना आपके चरणों में है। प्रातः सायं—दिन में हर समय इस ज्ञान को पकड़ कर आपको अपना जीवन बनाना है।

हमेशा दिल में फुर्त्ती होनी चाहिए। हमारा जो यह शरीर है, यह तो ओवर-कोट है। मन की जो भी हालत हो; परन्तु हमारी खुद की हालत नहीं बदलनी चाहिए। सद्वस्तु कभी भी बदलती नहीं है। परमात्मा के सागर की हम एक लहर हैं। सूर्य के प्रकाश की हम एक किरण हैं। हम इन्सान नहीं हैं, यह शरीर इन्सान है और मन तो इन्सान क्या शैतान है। हम इन दोनों से अलग हैं। हम आत्मा हैं। किसी ने मानो कटोरे में चन्दन को घिस कर भरा हुआ है। इसके माने क्या हैं ?—कटोरा सुगन्ध से भरा है। मैं आत्मा हूँ, यदि ऐसा आपने समझ लिया तो जिस तरह चन्दन से सुगन्ध ही निकलती है, मधु से मिठास ही निकलती है, उसी तरह आप से शान्ति ही निकलनी चाहिए, आनन्द ही बाहर निकलना चाहिए। बर्फ तो कभी गर्म नहीं हो सकती।

आपका वास्तविक स्वरूप आत्मा होने के कारण आपके जीवन व कार्यों से दिव्यता ही प्रकट होनी चाहिए। तो आप ऐसा करें कि आज से हमारा जीवन इन्सान का नहीं, देवता का जैसा है। हमारे अन्दर से महान् वस्तुएँ निकलेंगी। इसके बारे में दिन भर चिन्तन चलते रहना चाहिए।

[६-३-७५ को कुष्ट-रोगियों के मध्य दिया गया प्रवचन]

सेवा : चित्त-शुद्धि का माध्यम

आप लोगों ने अपने विविध सत्कार्यों का जो परिचय दिया, वे सब कार्य प्रगति करते हुए विस्तृत होते चले जाएँ, परम पिता से यह प्रार्थना है। यह लोक-कल्याण का कार्य है। बाह्य दृष्टि से देखें तो जिनकी आप सेवा करते हैं, उन्हीं का कल्याण होता है; परन्तु उस सेवा का अन्तिम आशीर्वाद, आध्यात्मिक फल आपको मिल रहा है। यह भी आत्मिक उन्नति का एक साधन है।

जिस व्यक्ति का जीवन अहं-केन्द्रित है, वह अपने ही लिए सब कुछ चाहता है, स्वार्थपरायण कार्यों में लगा रहता है। यही जीवात्मा के लिए सब से बड़ी उलझन है। व्यक्ति का अहंभाव ही संसार है, अज्ञान ही बेड़ियाँ हैं। इससे मुक्त होने के लिए जो भी सहायक होता है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। जितनी मात्रा में अहं से मुक्ति मिलती है, उतनी ही पवित्रता बढ़ती जाती है और उतना ही परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होता है।

यदि आपके जीवन में भगवद्भक्ति को आना है तो बिना चित्त-शुद्धि के वास्तविक भक्ति का जन्म सम्भव नहीं है। रस्म अदायगी वाली भक्ति (*Ceremonial Devotion*) मोक्ष-मार्ग में काम नहीं देने वाली है। वह भक्ति भगवान् से

कुछ माँग के लिए है, लेकिन भगवत्-प्रेम उस चित्त में पैदा होता है जो निष्काम है, जिसकी कोई माँग नहीं है।

इस चित्त-शुद्धि में तीन चीजें बाधक हैं—मलिन संस्कार, विक्षेप और आवरण। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य—इन छः की जड़ें अहङ्कार और स्वार्थ में हैं। जो सेवा में लग जाते हैं, वे ही सफल साधक हैं।

संस्कारों का मैल हटाने से चित्त शुद्ध होता है। उस निर्मल चित्त में भगवदाकांक्षा पैदा होती है और मनुष्य भगवदुपासक बन जाता है। ध्यान की तीसरी साधना ही भक्ति की तीव्रता है। ध्यान के द्वारा ईश्वर और मुमुक्षु के बीच विद्यमान अविद्या के आवरण का भेदन होता है। निष्काम कर्मयोग से सारा मैल धुल जाता है। आप लोग अपने द्वारा की जाने वाली सेवा को ऊँचा उठाकर आध्यात्मिक रूप देना चाहते हैं तो दलितों की सेवा को ईश्वर की सेवा समझिए; क्योंकि बाहर से वे शरीर हैं; परन्तु अन्दर से वे दिव्य ज्योति हैं। '**यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्**'—इस तरह परोपकार के भाव के साथ आध्यात्मिक भाव भी होना चाहिए।

काल परिवर्तन होता रहता है। जो तत्त्व कभी बलवान् होते हैं, काल-परिवर्तन के साथ उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। गान्धी जी के प्रेरक विचारों को लोग अब भूलने लग गये हैं या गौण समझने लगे हैं, जब कि उन्हें प्रथम स्थान मिलना चाहिए था। पश्चिम में लोग गान्धी जी को समझ रहे हैं, स्वीकृति दे रहे हैं और गान्धी जी की विचार-धारा की ओर मुड़ रहे हैं। शुद्ध गान्धीवाद को हमारे देश में यदि कोई

प्रस्तुत करता है तो लोग उसे कन्सरवेटिव और रिऐक्शनरा (*Conservative and Reactionary*) कहने लगे हैं ; परन्तु तथाकथित प्रगति की प्रतिक्रिया (*Reaction*) भी होगी ही।

गान्धो जी का दृष्टिकोण एकाङ्गी (*Partial*) न होकर व्यापक (*Comprehensive*) था। वे लगातार विकेन्द्रीकरण के लिए, ग्रामराज की स्थापना के लिए उत्सुक रहे। हमें गान्धी जी के अर्थशास्त्रीय विचारों का अध्ययन करना चाहिए और उन्हें अमल में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। निन्दा-स्तुति की फिक्र छोड़ देनी चाहिए। कृत्रिम लक्ष्य निर्धारित करना निरा पाखण्ड है। आप आँकड़ों के लिए काम नहीं कर रहे हैं, लोगों के लिए कर रहे हैं। आपका कार्य स्वयं में आशीर्वादस्वरूप है।

[७-३-७५ को रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के मध्य दिया गया प्रवचन]

मानव की प्रथम शिक्षक : सन्नारी

आप इन्सान हैं। आप जीवात्मा हैं। आपके जीवन में दो धाराएँ हैं। पहली यह कि कई प्रकार के अनुभवों को भोगना पड़ता है। ये अनुभव सुखमय-दुःखमय, कड़वे-मीठे दोनों तरह के होते हैं। हमारा प्रयत्न मीठे अनुभवों को भोगने का ही होता है। लेकिन हमें समझना चाहिए कि एक आने सुख के साथ पन्द्रह आने दुःख जुड़ा होता है। जो सम्यक् दृष्टि वाला है, वह एक आने सुख की परीक्षा करके देखे तो वह भी खोटा सिक्का ही निकलेगा।

आशाओं के कारण अशान्ति पैदा होती है और उससे हमारा मन निरन्तर बेचैन रहता है। प्रयत्न करके यदि आशा पूरी भी हो गयी तो बेचैनी तात्कालिक रूप में समाप्त हो जाती है और उसे ही हम सुख समझ लेते हैं। असली सुख हमने समझा ही नहीं। दो दुःखों के बीच के अन्तराल को ही हम सुख समझ लेते हैं। तीव्र पीड़ा के शमन के क्षण को ही हम सुख समझ लेते हैं। इसलिए 'सर्वं दुःखः विवेकिनः'— विचारवान् पुरुष के लिए सब दुःख ही है। इस दृष्टि से सुख-दुःखों का अनिवार्य भोग जीवन की एक धारा है। इस शरीर में जब तक हम हैं, तब तक यह धारा रहेगी।

परन्तु भगवान् ने आपको बुद्धि दी है, ज्ञान दिया है, ज्ञान

के साधन दिये हैं और अध्ययन, श्रवण के अवसर दिये हैं। ज्ञान के आधार पर आप सम्यक् कर्म कर सकते हैं जिससे आपका कल्याण होगा। इससे आप किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा अवनति होती है। अपने शत्रु आप स्वयं बनते हैं। हमारा हित साधने वाला रास्ता कौन है ? किस मार्ग में प्रवृत्त होने से हमारा दुःख बढ़ेगा, इसका तारतम्य जानना चाहिए। इसीलिए भगवान् ने बुद्धि दी है। हमारे धर्मशास्त्र बार-बार इस पर प्रकाश डालते हैं। अतः विवेकी बनकर ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति वाला बनाना चाहिए।

एक छोर पर हम प्रारब्ध से प्राप्त भोग की धारा में बह रहे हैं। दूसरी धारा हमारे सङ्कल्प और पुरुषार्थ की है। हमारा मन कितना भी जोर से हमें आशा-तृष्णा की ओर धकेले, तब भी हमें प्रेय के मार्ग पर बढ़ने में विवेक को कायम रखना चाहिए। हमें श्रेय के मार्ग को अपनाना है। यह अस्वीकृति (*Rejection*) और चुनाव (*Selection*) का काम बराबर चलते रहना चाहिए। जितना-जितना हम प्रेयस् को हटाकर श्रेयस् को अपनाने की ओर बढ़ेंगे, उतना ही जीवन उपलब्ध होता जाता है।

सुख-दुःख के द्वन्द्व से मनुष्य का मन भ्रान्त हो जाता है। वह न्यूरोटिक (*Neurotic*) हो जाता है। हम अपने दुःखों का कारण दूसरों को समझते हैं। इस तरह उद्वेग, द्वेष और क्रोध हमारे नुकसान के लिए उपस्थित हो जाते हैं। अपने अनुभवों की प्रक्रिया में हम कई तरह से विकृत हो जाते हैं। यह महान् भूल हमारे त्रिकालदर्शी ऋषि जानते थे कि

जीवात्मा को जीवन में जो कुछ अनुभव आता है, उसका माध्यम भले ही कोई दूसरा लगता हो; परन्तु वह उसके कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का ही परिणाम होता है। इसलिए भाग्य को किन्हीं विषम ग्रहों ने हम पर आरोपित नहीं किया है। स्वयं बोयी फसल को हम काटते हैं। ऐसी समझ आने से आदमी का मन बिलकुल शान्त हो जाता है। जहाँ इस तरह की समझ आ जाती है, वहाँ सहिष्णुता आती है, वहाँ पर शान्ति आती है। हम सब प्रकार की विकृतियों से मुक्त हो जाते हैं। हमारे व्यक्तित्व का सौन्दर्य निखर उठता है।

और गहराई से देखें तो हमारे अनुभव बहुत मूल्यवान् होते हैं। वे हमारे व्यक्तित्व को चमकाने के लिए आते हैं। वे अनुभव भगवान् का कुछ सन्देश लेकर आ रहे होते हैं। इस तरह की दृष्टि प्राप्त होने पर यह विश्व ही विश्व-विद्यालय बन जाता है, जीवन शिक्षण बन जाता है और प्रत्येक अनुभव एक पाठ बन जाता है।

मुमुक्षु इस से भी और आगे जाता है। वह सोचता है कि ये अनुभव मेरी तितिक्षा को बढ़ाने आये हैं। वह भगवान् के द्वारा भेजी गयी साधना की प्रक्रिया है। उन अनुभवों को वह तपस्या समझता है। इस तरह अपने अनुभवों के प्रति साधक एक विशेष दृष्टि बना लेता है।

आप दूसरे दृष्टिकोण से स्त्री हैं। उस दृष्टि से मानव की उत्पत्ति आप से है। इसलिए आपका प्रधान व्यक्तित्व मातृत्व का है। आपका यह भाव होना चाहिए कि 'मैं माँ हूँ।' आप पत्नी केवल एक पुरुष के लिए हैं,—अग्नि-दीक्षा के सामने।

इसको पातिव्रत्य धर्म कहते हैं। इन्सान की माता के स्थान पर होने की वजह से इन्सान का शैशव आपकी गोद में है। इसलिए आप इन्सान की पहली शिक्षिका हैं। उसके व्यक्तित्व को बनाने वाली हैं। यह महत्वपूर्ण काम भगवान् ने आपके हाथों में सौंपा है। इसलिए आप जगत् के भविष्य को बदल सकती हैं।

जो घर माता के संरक्षण में है, वह राष्ट्र की पौधशाला है। आज वैज्ञानिक भी कहने लगे हैं कि जन्म के एक साल से पहले से बच्चे का शिक्षण प्रारम्भ होना चाहिए। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने गर्भिणी माता के वातावरण को मङ्गलमय बनाने का सुझाव दिया है। नारद के नारायण-भजन के प्रभाव के कारण ही प्रह्लाद इतने ऊँचे भक्त बन पाये थे।

आप न केवल नारी हैं; बल्कि भारतीय सन्नारी हैं। इसीलिए आप के व्यक्तित्व और व्यवहार को भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक होना चाहिए। यह मातृभूमि की उपासना का सही तरीका है। भारत र्ष एक जड़ भूमि नहीं है। वह एक जाग्रत शक्ति है—आध्यात्मिक अनुभूति और धार्मिक आदर्शों के जोड़ से बनी शक्ति है। आपके द्वारा भारत माता को जीवन्त और प्रगतिशील बनना चाहिए और उससे मानवता को मार्ग-दर्शन मिलना चाहिए।

मानव ही मानव का महाशत्रु बन गया है—यह आज की परिस्थिति है। यद्यपि सब शान्ति की बात कर रहे हैं; परन्तु वे न केवल हथियारों का निर्माण ही कर रहे हैं, अपितु उन्हें दूसरों को बेच भी रहे हैं। अणु-शस्त्रों के निर्माण के कारण तो मनुष्य-जाति के सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

इनका भण्डार रखना तो अपराध माना जाना चाहिए था। इस सारी दौड़ को रोक कर नये रास्ते पर ले जाना भारत और यहाँ की सन्नारी का दायित्व है। पश्चिम में तो धर्म-विहीनता के कारण एक आत्मघाती मनोवृत्ति का निर्माण हो गया है।

[७-३-७५ को महिलाओं की गोष्ठी में दिया गया प्रवचन]

महाप्रस्थान की विधि

बर्फ से अग्नि उत्पन्न होना, रेत से तेल निकलना आदि बातें जिन्हें संसार असम्भव मानता है, यदि वे भी किन्हीं कारणों तथा परिस्थितियों में सम्भव हो जायें तो भी भगवान् के भजन बिना जीव भव-सागर को सन्तरण कर जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है। हमें शान्त रहना चाहिए, तभी महाशान्ति के सागर से हमारा तार जुड़ सकता है और महाशान्ति हम में अवतरित हो सकती है।

शरीर की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं। उसमें परिवर्तन है, दुर्घटनाएँ हैं। वह मरणधर्मा है। आरोहण-अवरोहण का धर्म उसके साथ जुड़ा है। मरणोपरान्त पाँच-तत्त्व अपने मूल में विलीन हो जाते हैं।

'छिति जल पावक गगन समीरा ।
पञ्च रचित अति अधम शरीरा ॥'

परन्तु इस भौतिक शरीर की समाप्ति आपकी समाप्ति नहीं है। आप परिपूर्ण आत्म-तत्त्व हैं। शरीर के धर्म तो आप लोगों ने सब पूरे कर दिये। शरीर अब जीवन की सन्ध्या को पहुँच गया है। अब आपका काम है, अपने प्रभु का, अपने अन्तर्यामी का निरन्तर चिन्तन करना, उनका नाम रटना, उन्हीं के लिए श्वास-प्रश्वास छोड़ना, जीवन-यापन करना।

जिस प्रकार श्यामपट पर लिखी बातें पोंछ दी जाती हैं, उसी प्रकार अतीत की बातों को भुला देना चाहिए। समझना चाहिए कि मैंने अभी जन्म लिया है और जन्म लेकर मुझे भजन का धन अर्जित करना है। शरीर आपका घर है। जब तक आप इस शरीर में हैं, तब तक भगवान् का भजन कर सकते हैं। बस, इस असार संसार में एक ही वस्तु है जिससे आपको सुख मिल सकता है। उसे आप चाहे जो नाम दें— भगवान्, अल्लाह या और कुछ। जितना ही अधिक आप भगवद्भजन करेंगे, उतनी ही अधिक आपकी पारमार्थिक सम्पत्ति होगी। वही भाग्यशाली घड़ी है जिस समय आप भगवान् के साथ जुड़े होते हैं। भगवद्विस्मरण इस शरीर में रहते हुए भी मृत्यु के समान है।

यदि यह भगवद्भजन की सम्पत्ति अर्जित करते जायेंगे तो आप यहाँ से रिक्त हाथों नहीं जायेंगे, पश्चात्ताप करते नहीं जायेंगे, हँसते-हँसते जायेंगे। मरना किस तरह है, यह सीखना चाहिए। जब यह मालूम हो जाय कि शरीर छूटने वाला है, तब सारे सांसारिक विचार छोड़कर अपने अन्तर्यामी का स्मरण करना चाहिए। 'ॐ तत्सत्'—यह भगवान् की ओर महाप्रस्थान करने की विधि है। इस तरह महाप्रस्थान की तैयारी के रूप में निरन्तर अभ्यास करके आदत बनानी चाहिए। उसी में रम जाना चाहिए। जिस प्रकार रसगुल्ले और जलेबी को चासनी में डुबोते हैं, उसी प्रकार अपने को भगवद्-भजन में निमग्न कर देना चाहिए।

[५-३-७५ को वृद्धाश्रम में दिया गया प्रवचन]

आत्म-विज्ञान या ब्रह्म-विद्या

सुदूर अतीत में आपके पूर्वज, जो इस भारतीय दृश्य-पट के जीवन-नाटक में एक सक्रिय पात्र थे, ऐसे लोग थे जिन्होंने सत्य का शोधन किया था। ये ऐसे लोग थे जिन्हें जिज्ञासु के रूप में जाना जाता था। उन्होंने इस निखिल ब्रह्माण्ड में अन्तर्निहित सत्य, विश्व में मानव एवं उसके जीवन से सम्बन्धित नियम, इस विश्व को नियमित करने वाली विधि और ब्रह्माण्ड में मानव-जीवन को शासित करने वाले नियमों के शोध का प्रयत्न किया। अपने अन्वेषण के परिणामों को वे उत्तराधिकार में हमारे लिए विरासत में छोड़ गये हैं।

समस्त मानवता के हितार्थ उन्होंने उद्घोषित किया था: '**हे मर्त्याः शृणुत परमं हितं वाक्यं संक्षेपतः इति**'—इस विनाश-धर्मा विश्व के नश्वर प्राणियो! संक्षेप में श्रवण करो। मैं तुम्हारे परम कल्याण का उद्घोष करूँगा।' उन्होंने मानवता के समक्ष अपने को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए कहा: 'हम आपके साथ उस ज्ञान में सहभागी बनना चाहते हैं जिसने हमें सङ्कल्प-विकल्प, विक्षेप और मन की चञ्चलता के द्वन्द्वात्मक झञ्झावात से ऊपर उठा कर स्थैर्य में स्थापित कर दिया है। यह ऐसी स्थिति है जिस में हमें हर्ष-शोक, सफलता-विफलता, लाभ-हानि, सम्मान-अपमान, प्रशंसा-निन्दा, और उष्णता-शीतलता के मध्य साम्य-दृष्टि का बोध होता है।

हमने अपनी चेतना को एक ऐसे निश्चित आयाम की ओर विकसित कर दिया है जहाँ शाश्वत मूल्यों का साम्राज्य है, जिस में कोई परिवर्तन नहीं है और जो असीम व अनन्त है। उस आयाम में स्थिर हो जाने के कारण हम द्वन्द्वातीत होने में समर्थ हो गये हैं। समस्त में साम्य-दृष्टि का विकास हो गया है और वैश्विक उपलब्धियों के परिवर्तमान अनुभवों से हम प्रभावित नहीं हो पाते हैं। हम आप लोगों से इस सत्य की घोषणा करने की आकांक्षा रखते हैं।'

दूसरे सन्दर्भ में इन्हीं आत्मज्ञानी ऋषियों ने, जो अपनी समकालीन पीढ़ी में उस सम्पूर्ण ज्ञान के प्रवर्तक थे जिसे आप लोगों ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है. मानवता को सम्बोधित किया : '**अमृतस्य पुत्राः**—अमरता के पुत्रो ! तुम अमर हो, तुम मरण-रहित हो और तुम्हारी समस्त प्रकृति निस्सन्देह भौतिक, मानसिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं से परे है। तुम एक आध्यात्मिक चिन्तना हो जिसको शस्त्र घायल नहीं कर सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। तुम अनुत्पन्न व शाश्वत हो। तुम्हारा कभी ह्रास नहीं होता और न तुम्हारी कभी समाप्ति ही होती है। इस नश्वर शरीर में भी तुम अविनाशी हो। इस देह के क्षीण होने पर भी तुम अप्रभावित रहते हो।' इस प्रकार उन्होंने मानवता को अमृत-पुत्र के रूप में सम्बोधित किया।

सनातन धर्म

उन्होंने शोध-कार्य भी सम्पन्न किया और इस शोध-कार्य के परिणामों—उनकी उपलब्धियों, उनके अनुभवों, उनकी

प्राथमिक व्यक्तिगत अनुभूतियों को उन्होंने उपनिषदों के रूप में उपलब्ध कराया है। उपनिषद् आध्यात्मिक अनुभूतियों के अन्तिम उद्गम हैं जिनमें प्रवेश पाने और दृढ़तापूर्वक स्थिर होने में मानव समर्थ हुआ है। ज्ञानीजनों द्वारा प्रदत्त उत्तराधिकार के रूप में हमें उपनिषद् उपलब्ध हैं जिन्हें वैदिक ज्ञान का ज्ञान-काण्ड समझा जाता है। ये हमारी संस्कृति के आधार, उद्गम व स्रोत हैं। इसीलिए हमारी जीवन-विधि, हमारी श्रद्धा, हमारे विश्वासों को वैदिक धर्म के नाम से जाना जाता है जिसे पाश्चात्य जगत् से आने वाले लोग समझने में असमर्थ होते हैं। इसी कारण वे लोग इस तत्त्व-चिन्तन, विश्वास व पूजा का नामकरण यहाँ के लोगों के आधार पर करते हैं। वे इसे हिन्दू-धर्म के शब्द से पुकारते हैं। इस शब्द का भारत की संस्कृति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

हमारा धर्म हमारे लिए वैदिक धर्म या सनातन धर्म के रूप में परिचित है। सनातन का अर्थ होता है कि उसका उद्गम वर्णनातीत है, वह बहुत पुरातन है, वह शाश्वत है और वह वेदों पर आधारित है। इसको वैदिक धर्म कहा जाता है। वेदों में उत्सव-मन्त्रों से सम्बन्धित ज्ञान, मार्ग-दर्शन तथा निर्देशन प्रदान किया गया है, निसर्ग की महान् शक्तियों से सम्बन्धित ऋचाओं का उद्वेलन है और इसके साथ ही उत्सव-बलिदानों, हवनों और यज्ञों आदि का उल्लेख भी है। न्यूनाधिक रूप में ये वेदों के प्राथमिक भाग का निर्माण करते हैं और इसे कर्म-काण्ड की संज्ञा दी जाती है। यह भाग कुछ ऐसी निर्धारित क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है जो इहलोक और परलोक में मानव-कल्याण, जीवन-साफल्य, वैभव, कल्याण और आनन्द से संलग्न हैं। वेदों की उद्विकासावस्था में एक

ऐसा सोपान भी आता है जहाँ मानव को यह अनुभव होता है कि इस धरती पर अपने अन्तिम विश्लेषण में जो कुछ भी मूल्यवान् है, उसका मनुष्य के लिए अन्ततः सामयिक सन्दर्भ और प्रामाणिकता है। क्यों ?

जागतिक वस्तुओं की क्षणिक सार्थकता

उनके द्वारा जिस निहितार्थ की जानकारी हुई, उसका सार यह था कि इस ब्रह्माण्ड में मानव स्वयं में एक अस्थायी घटना है, वह एक क्षणिक निवासी है और उसका उद्भव रहस्य से आवृत है। मानव इस धरती पर अवतरित होता है और जब यहाँ उसके अस्तित्व की तालिका समाप्त हो जाती है तो वह यहाँ से प्रस्थान कर देता है। यही ऐसे रहस्य हैं जिन्होंने उनको परेशान किया था। एक दिन आप सबको वह छोड़ देना पड़ेगा जिसे आपने उपलब्ध किया है। जिस क्षण भी मानव अपनी देह का परित्याग करता है, उसी क्षण वह पुनः अज्ञात की यात्रा पर चल पड़ता है। इसी कारण उन्होंने अक्षुण्ण मूल्यों की खोज प्रारम्भ की—ऐसी चीज की खोज जो मनुष्य के लिए सार्वकालिक रूप में उपयोगी है, जो नित्य ऐश्वर्य-सम्पत्ति है और जिसका कोई क्षणिक, सामयिक सन्दर्भ नहीं है। इस स्तर पर ही उन्होंने गहन अन्वेषण में प्रवेश किया।

कब ? कहाँ ? मैं कौन हूँ ? यह क्या है जिसे जीवन कहा जाता है ? मैं यहाँ क्यों आया हूँ ? वह क्या कुछ है जिसको मुझे उपलब्ध करना है ? मेरी मञ्जिल क्या है ? इस विधि से वे नाम-रूप के दृश्य प्रकटीकरण की पृष्ठभूमि में निहित अदृश्य की खोज में उतरे। उन्होंने ब्रह्माण्ड और

मानव के कथानक की उत्पत्ति को रहस्यात्मकता और इस जीवन से परे के रहस्य को खोजने का प्रयत्न किया। मनुष्य को क्या होता है? उसकी वास्तविक नैसर्गिकता क्या है? उसका 'अस्तित्व' कब मृत्यु को प्राप्त होता है? क्या यह सदैव के लिए विनष्ट हो जाता है? क्या कोई वस्तु इस जीवन के पश्चात् भी नैरन्तर्य में रहती है? क्या कोई वस्तु अभी भी अस्तित्व में है? इन प्रश्नों से उनका मन आवृत था।

हमें इस तथ्य का पता नहीं है कि कितने अध्येता, कितने महान् व्यक्तित्व इन प्रश्नों की पेचीदगियों से परेशान थे और उनका उत्तर ढूँढने में कितनी पीढ़ियों की आहुतियाँ हुई?

लेकिन हम इतना अवश्य जानते हैं कि उन्होंने किसी-न-किसी रूप में इस शोध-यात्रा को बनाये रखा। हर एक ने इस शोध व अन्वेषण-कार्य की दिशा में अपने जीवन में कुछ-न-कुछ प्रगति की। उन्होंने जो कुछ भी उपलब्धि की, उसे परवर्ती वंशजों के लिए समर्पित किया। इस प्रकार एक ऐसा अवसर था जब कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी अज्ञात की खोज, व्यक्त की पृष्ठभूमि में अन्तर्निहित वास्तविकता की समझ, संसार से ऊपरी तत्त्व की पकड़, अव्यक्त और अदृश्य की खोज गतिमान थी तथा कुछ महान्, उज्ज्वल, अद्भुत, परम प्रकाशमय क्षण भी उपस्थित हुए थे जब कि दिव्य प्रकाश की उपलब्धि हुई थी।

वे वास्तविक सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूतियों को जानते थे। उन्होंने ब्रह्माण्ड व मानव-अस्तित्व से सम्बन्धित प्रश्नों 'क्यों' और 'कहाँ' को ज्ञात कर लिया था। उनके दिव्य आत्मिक चक्षुओं के समक्ष वे समस्त अनुभव प्रकट थे और उनके मन में

किसी तरह का सन्देह बाकी नहीं था। समस्त सन्देह गिर गये थे। खोजने को कुछ भी बाकी नहीं था। उनकी समस्त शोध पूर्णता में सम्पन्न हो गयी थी। उस ज्ञान से आप्लावित होकर, उस आध्यात्मिक अनुभव से परिपूर्ण होकर उन्होंने उस उपलब्धि का सब के साथ सम्यक् उपभोग किया।

परा और अपरा-विद्या

उन्होंने इन समस्त आत्मिक उपलब्धियों को परवर्ती पीढ़ियों के समक्ष रखा और इस प्रकार ज्ञान का द्विविध आयाम अस्तित्व में आया। इसको आप गोचर पदार्थों का प्रचुर प्रवाह कहते हैं जिसका मन्तव्य यह होता है कि ज्ञान का अस्तित्व रहा है, हमसे बाह्य वस्तुओं का हमें बोध होता है, अपरिवर्तनीय शाश्वत सत्ता का ज्ञान उपलब्ध होता है।

इस ओर की वस्तुओं के ज्ञान को अल्प ज्ञान कहा जाता है। वे इसे अल्प ज्ञान इसलिए कहते हैं कि मानव के लिए इसकी प्रासङ्गिकता, प्रामाणिकता और उपयोगिता सामयिक व क्षणिक है।

इस जगत् की वस्तुओं के ज्ञान को, जिनकी मानव के लिए कोई परवर्ती प्रासङ्गिकता नहीं है, उन्होंने अपरा-विद्या के नाम से इङ्गित किया है और जो इस भौतिक गोचर पदार्थ से अतीत है, उसे उन्होंने परा-विद्या, ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या कहा है। विज्ञान, कला और इस जगत् की समस्त वस्तुओं के ज्ञान को हमारे पूर्वजों ने ज्ञान की ६३ विभिन्न शाखाओं में विभाजित किया है।

परा-विद्या या आत्म-ज्ञान आपकी आन्तरिक वास्तविकता

है। इसमें आपके ज्ञान की विरासत निर्मित होती है। इसको कुछ विशिष्ट कारणों से परा-विद्या के नाम से भी जाना जाता है। इस जगत् की जानकारी अपरा-विद्या है; क्योंकि यह घटित वस्तुओं का ज्ञान है। पदार्थों का आदि और अन्त होता है। वस्तुएँ समय के अन्तर्गत घटित होती हैं और कार्य-कारण नियम के अधीन होती हैं। इसके विपरीत 'परा-विद्या' पूर्णता का ज्ञान है। यहाँ की देशस्थ मर्यादाओं में सीमित वस्तुओं का ज्ञान मर्यादित होता है जब कि परा-विद्या, वैश्विक सत्ता का ज्ञान असीम, अनादि और शाश्वत है। यह था, यह है और यह होगा। लेकिन अपर कारणों से यह आपके और मेरे मध्य ज्यादा प्रासङ्गिक है। इसको परा-विद्या कहा जाता है; क्योंकि उस परम का ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर मानव कष्टों से मुक्त हो जाता है। मनुष्य कष्ट और दुःख से अतीत हो जाता है तथा ब्रह्म-ज्ञानी निर्भय हो जाता है। ब्रह्म-ज्ञानी परम शान्ति व निर्भयता को उपलब्ध हो जाता है। वह दुःख और वेदना के पार होकर मृत्यु से भी स्वतन्त्र हो जाता है। यही कारण है कि ज्ञान की गरिमा मानव को इस घटित व सीमित जागतिक जीवन के अनुभवों से मुक्त करके उसे असीम स्वतन्त्रता, पूर्ण निर्भयता और परम शान्ति व आनन्द की चेतना में प्रतिष्ठित कर देती है। इसीलिए इस प्रकार के ज्ञान को उन्होंने परा-विद्या कहा है। इस विद्या का आशय वास्तविकता के ऐसे प्रत्यक्ष बोध से है जिसमें इन्द्रियों का माध्यम गौण हो जाता है। आपके चारों ओर जो विस्तृत ब्रह्माण्ड है, उसके ज्ञान को आप दर्शन, श्रवण या स्पर्श करके ही प्राप्त कर सकते हैं। ये दर्शन के स्रोत हैं जिनके माध्यम से आप बाह्य भौतिक ब्रह्माण्ड की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

आत्मा का स्वरूप

परम आत्मगत निसर्ग का अस्तित्व वस्तुनिष्ठा से कुछ परे है; क्योंकि वह कुछ इस तरह का अस्तित्व है जिसे अपनी अन्तर्भूत आत्मा द्वारा समझा जाता है। इसको देखा नहीं जा सकता। यह श्रवण का विषय भी नहीं है। इसको सूँघा भी नहीं जा सकता। यह स्पर्श की मर्यादा से भी परे है; क्योंकि यह सर्वथा पृथक् विषय है। इसके विषय में उपनिषदों का वक्तव्य है: 'जो चक्षुओं के अन्तस्थल में विद्यमान है, जिसके माध्यम से नेत्र दर्शन करता है, चक्षु जिसकी देह है और जो आँख के लिए भी अज्ञात है, वही परम ब्रह्म है। वह समस्त दृष्टि से परे है। जो श्रोत्र में अन्तर्निहित है, जिसके माध्यम से कान श्रवण करता है, कान ही जिसकी देह है और जो कर्णेन्द्रिय के लिए अज्ञात है, वही समस्त श्रवण से अतीत परम श्रोता है। वही आत्मा है। वही परम विषय है, चिन्तन की पृष्ठभूमि में निहित चिन्तक है। इस प्रकार आत्मगत चेतना होने के कारण उसे इन्द्रियगत दर्शन का विषय नहीं बनाया जा सकता। इस कारण वह परम सत्ता है और इसीलिए उसे उसी के द्वारा समझा जा सकता है जिसकी प्रकृति परम भावातीत स्वत्व की तरह हो।' फिर वह क्या है जो आप में अन्तर्निहित है और जिसके माध्यम से आपको विषयों का बोध होता है?

प्राण और विभिन्न कोश

आप लोग माँस और हड्डी के पिञ्जड़े, भौतिक जड़ तत्वों की देह के चौखटे में निवास कर रहे हैं; किन्तु तब भी इसमें

भेद है। समस्त देह, यह सम्पूर्ण रचना परस्पर आबद्ध है। यदि कोई तत्त्व इससे विच्छिन्न होता है तो इसकी क्रियाशीलता गतिहीन हो जाती है। इसको अग्नि की लपटों में अर्पित कर दिया जाता है। इसे या तो भूमिगत कर दिया जाता है या जला दिया जाता है। वह कौन-सी सत्ता है जो देह के और मेरे मध्य सापेक्ष क्रियाशीलता का भेद पैदा कर देती है। मेरी इस देह की सर्वेन्द्रियाँ सजग हैं जब कि दूसरी देह में भौतिक विस्तार परिपूर्ण होने के बावजूद कोई वस्तु अनुपस्थित है। उस देह को अर्थहीन समझकर दूर ले जाकर जला दिया जाता है। वह आपकी सत्ता का द्वितीय सोपान है। वह एक जैविक सत्ता है, एक प्राण-शक्ति है और आपके अस्तित्व के इस पहलू को प्राण कहा जाता है। यह प्राण ही जीवित सत्ता को मृत सत्ता में बदल देता है। इसे प्राणमय कोश के नाम से जाना जाता है।

यह प्राण-शक्ति वनस्पति-जगत् में प्रारम्भिक रूप में अस्तित्व में रहती है। उनमें भी वह सक्रिय रहती है। वनस्पति-जगत् भी जीवन्त है। इसीलिए उनमें विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाएँ कार्यरत रहती हैं। वनस्पति-जगत् में अपचय होता रहता है। यह समस्त क्षेत्र में प्रवाहमान होकर उच्चतम वस्तुओं को भी पोषण प्रदान करता रहता है। मूल के साथ ही निसर्ग का सम्बन्ध आ जाता है। पौधे की जड़ मिट्टी से पोषण प्राप्त करती है। इस दृष्टि से पौधा एक जीवित अवयव है जो परिवर्तित होता रहता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, अपने को परिपुष्ट करता है अनिच्छित वस्तुओं की निकासी करता है, आकार का विस्तार ग्रहण करता है, नवीन वस्तुओं का सृजन करता है और दूसरे

प्राणियों के अनुसार ही फल-फूलों को प्रस्तुत करता है। वहाँ प्राण-शक्ति विद्यमान है।

वनस्पति-संसार प्राणवान्, गतिवान्, सक्रिय है। लेकिन मानव में कुछ ऐसी शक्ति भी है जो निम्न मानव-योनियों—कीट, पक्षी, वन्य जन्तु आदि—की तरह वनस्पतियों में क्रियाशील नहीं है। चिन्तन अनुभूति और विवेक की शक्ति, तर्क, निष्ठा, चयन, अस्वीकृति, मैत्री की शक्तियाँ, सोद्देश्य और सजग नियमन की शक्ति, कुछ काल पश्चात् अपनी राय को बदलने की क्षमता और नवीन चिन्तन करने की क्षमता, नवीन ज्ञान की पकड़ आदि क्षमताएँ केवल मानव को ही प्रदत्त हैं।

चिन्तन और अनुभूति, विचार और भावना, कल्पना और स्मृति की ये दो प्रारम्भिक प्रक्रियाएँ आपके अस्तित्व के दूसरे पहलू हैं। इसे मनोमय कोश कहा जाता है। विचार, भावना व अनुभूति मे सम्बन्धित मानसिक क्रियाएँ और मनोमय कोश की तर्क, बुद्धि आदि विशेष क्रियाएँ हैं। इसे ही विज्ञानमय कोश कहा जाता है; क्योंकि यह अतीत के ज्ञान से वर्त्तमान ज्ञान का निर्माण करता है और उनकी रचना व तुलना द्वारा नवीन ज्ञान का उद्भव होता है। इसलिए यह विज्ञानमय कोश कहलाता है।

जिस स्रोत से विचार के लिए विषय उपलब्ध होता है, उसी उद्गम से कल्पना के लिए भी विषय प्राप्त होता है। अनुभूति आपके अस्तित्व का गहनतम आयाम है जिसमें विचार, अनुभूति और दर्शन के असंख्य प्रभाव अवस्थित रहते हैं। यहाँ तक कि चिन्तन-प्रक्रिया एवं तर्क-प्रक्रिया भी आपके मस्तिष्क, मन व बुद्धि के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

पञ्चेन्द्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुएँ, हमारे देह व मन की अनुभूतियाँ, विचारणीय वस्तुएँ, विवेचनीय वस्तुएँ,—ये सब तत्काल ही ठोस प्रभाव के रूप में प्राप्त होती हैं और किसी भी प्रकार की क्रिया तथा अनुभूति का पुनरावर्तन उस दिशा में कुछ निश्चित मनोवृत्ति की रचना करता है। तब आप जाग्रतावस्था या स्वप्नावस्था में अपनी सहज स्थिति में होते हैं। जब यह प्राणमय कोश और अन्नमय कोश में सजग रूप से सक्रिय होती है, तब आप अपनी चेतना की जाग्रतावस्था में होते हैं।

चेतना के तीन स्तर

चौबीस घण्टों के चक्र में प्रत्येक व्यक्ति चेतना की तीन अवस्थाओं या दशाओं से गुजरता है। जब चेतना सभी चार कोशों,—विज्ञानमय कोश मनोमय कोश, प्राणमय कोश और अन्नमय कोश, के साथ क्रियाशील रहती है, तब आप अपनी देह के प्रति अपनी इन्द्रियों की क्रियाशीलता के प्रति सजग रहते हैं और अपने चारों ओर की दुनियाँ का दर्शन करते हैं। दैनन्दिन जीवन की यह सामान्य चेतना है। यह जाग्रतावस्था है।

और जब दिवस का अवसान होता है, आप सायङ्काल के भोजन, रेडियो-श्रवण या परिवार के साथ गपशप करने के बाद विश्राम में होते हैं, तब आप निद्रा अनुभव करते हैं। आप शयनागार में लेटकर निद्रा में लीन हो जाते हैं। तब एक क्षण में ही कुछ अद्भुत वस्तु घटित होती है। समस्त बाह्य जगत् विलीन हो जाता है। चेतनावस्था में वास्तविक रूप से आभासित विश्व विलीन हो जाता है। समस्त वस्तुएँ समाप्त

हो जाती हैं और उस अवस्था में आप जिस कमरे में सोये होते हैं, उसके प्रति या जिस बिस्तर पर आप सोये होते हैं उसके प्रति और यहाँ तक कि अपने शरीर के अस्तित्व के प्रति भी जागरूक नहीं होते। आप आत्मगत व वस्तुगत समस्त विश्व से अनभिज्ञ हो जाते हैं। इस स्थिति में आपके लिए प्रत्येक वस्तु का अनस्तित्व हो जाता है।

कभी-कभी चेतना की इस स्थिति में बाह्य विश्व के पूर्वानुभवों के आधार पर मन अपनी अनुरूपता में ही सृजन करने लगता है। अपने अन्तर्भूत प्रभावों की शक्ति के साथ पुनर्निर्मित अनुकृत ब्रह्माण्ड कार्यरत हो जाता है। यहाँ तक कि इसमें आपकी स्वयं की अनुकृति भी निर्मित हो सकती है। चेतना की उस स्थिति में आप स्वयं भी वहाँ क्रियारत रहते हैं। इतस्ततः गतिमयता की अवस्था में आप स्वयं का साक्षात्कार भी करते हैं और आप अनुभूतियों के समस्त विस्तार से गुजरते हैं। आप सुख-दुःख दोनों की अनुभूति कर सकते हैं। आप आनन्द अनुभव कर सकते हैं। आप हँस सकते हैं। आपकी भौतिक देह तक में प्रतिक्रिया सम्भव है। हृदय धड़क सकता है। यदि आप किसी वीभत्स स्वप्न का दर्शन कर रहे हैं तो आप बिस्तर पर प्रहार करने का नाटक कर सकते हैं और आपकी बगल में स्थित कोई व्यक्ति आप में घटित होने वाली घटनाओं का अवलोकन कर सकता है। भौतिक देह को प्रभावित करने वाली और उसके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली अनुभूतियों की इतनी शक्ति होती है।

इस प्रकार बाह्य विश्व से पृथक् एक ऐसे द्वितीय ब्रह्माण्ड का सृजन होता है जिसके प्रति आप जागरूक तक नहीं होते।

इससे एक भिन्न देश-काल के आयाम का सृजन भी हो सकता है। यह आपको पीछे की ओर १५ वर्ष पूर्व तक ले जाकर उस वास्तविकता की अनुभूति करा सकता है जो आपकी तरुणाई में घटित हुई हो या यह आपको एक दूसरे विश्व में उन लोगों के दर्शनार्थ भी ले जा सकता है जो मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं या इसके द्वारा एक ऐसे अनुभव की पुनर्रचना हो सकती है जो आपको दूसरे देश में दस हजार या पाँच हजार मील की दूरी तक पहुँचा दे। इसमें यह शक्ति है कि किसी भी क्षण उस आयाम में वह ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग का सृजन कर सकती है।

इस प्रकार इसमें अतीत व वर्त्तमान, निकट और सुदूर, विस्तर पर लेटे हुए तकिये पर सिर रखकर अनुभूतियों की रहस्यमय क्षमता विद्यमान है। यह समस्त ब्रह्माण्ड का सृजन करने में भी सक्षम है। जब आप से बाह्य का वास्तविक भौतिक ब्रह्माण्ड आपके लिए कोई प्रासङ्गिक रूप में नहीं रह जाता है, तब जीवन और ब्रह्माण्ड को अनुभव में लेने वाली चेतना स्वप्नावस्था में होती है। लेकिन तब इन द्विविध ब्रह्माण्डों में एक सामान्य लक्षण होता है। इन दोनों प्रकार के जगत्—जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था—में आप अनुभूतियों से गुजरते हैं। आप कष्ट व आनन्द अनुभव करते हैं। आप मुस्कराते या भयभीत होते हैं। आप पश्चात्ताप करते हैं, अश्रु बहाते हैं। आप ग्रीष्म और शीत का अनुभव करते हैं, क्षुधा-पिपासा अनुभव करते हैं। आप शारीरिक वेदना व मानसिक विक्षिप्तता अनुभव करते हैं। ये समस्त अनुभव जाग्रत और स्वप्निल दोनों आयामों में विद्यमान रहते हैं।

लेकिन फिर चेतना की दूसरी स्थिति—स्वप्नावस्था—के पश्चात् जब आप तीसरी स्थिति की ओर गति करते हैं तो विज्ञानमय कोश में अन्तर्निहित चित्त या संस्कार और वासना की शक्तियों द्वारा प्रतिलिपि में रचित आन्तरिक विश्व भी तिरोहित हो जाता है। तब न तो हम किसी बाह्य वस्तु और न किसी आभ्यन्तर वस्तु के प्रति सजग होते हैं। तब कुछ भी अस्तित्व में नहीं रहता। दोनों ब्रह्माण्ड आपकी सजगता और चेतना से विलीन हो जाते हैं। बाह्य और आन्तरिक, भौतिक एवं मानसिक इन दोनों ब्रह्माण्डों के विलय से एक अद्भुत स्थिति का अभ्युदय होता है। आप समस्त भय, सन्ताप, दुःख, अनुताप, उदासी, निराशा, तनाव और बेचैनी और जागतिक जीवन की समस्त अस्तव्यस्तता से पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं, आप में किसी तरह की अवरोधक वस्तु नहीं रह जाती।

उस स्थिति में आप अपनी सारभूत स्थिति का आनन्द लेते हैं। आप पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति में होते हैं। आप पूर्ण निश्चलता की स्थिति में होते हैं। उस स्थिति में वर्णनातीत शान्ति होती है। क्यों ? क्योंकि सापेक्ष विश्व को आप्लावित करने वाली समस्त इन्द्रियाँ और उनकी अनुभूतियाँ जागतिक हैं। ये अनुभूतियाँ दुःखदायी होती हैं। जिनकी आप अवहेलना करने का प्रयत्न करते हैं, जिनसे आप बचने का प्रयत्न करते हैं, जिनको आप अपने से दूर ही रखना चाहते हैं, वे सब इस स्थिति में अविद्यमान रहती हैं, उसमें कोई दुःख व सन्ताप नहीं रह जाता है। उसमें भय और निराशा का निरसन हो जाता है। अन्ततः उसमें किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं रह जाती।

इस तरह यह एक नकारात्मक रूप में समस्त दुःखदायी

अनुभूतियों का विराम होता है, समस्त दुःखदायी व अवाञ्छित अनुभूतियों की अनुपस्थिति की स्थिति होती है। आप शान्ति की स्थिति में स्थित होकर उसका आनन्द लेते हैं और तब आप आनन्ददायी गहन निद्रा, स्वप्न-रहित निद्रा से जाग्रत होते हैं। यदि कोई आपको पूछता है : 'क्या आप अच्छी तरह से सोये हैं ?' आप कहेंगे : 'हाँ, हाँ, मैं अच्छी तरह से सोया हूँ। मैंने अच्छी गहन निद्रा का आनन्द लिया है।'

प्रतिदिन व्यक्ति चेतनापूर्वक उस स्थिति में प्रवेश पाने का प्रयत्न करता है और अत्यधिक सुरचित पद्धति से उसके लिए तैयारी करता है। मच्छरों की उपस्थिति में वह मच्छरदानी लगाता है। ध्वनि की विपुलता में वह उसे शान्त करने का प्रयत्न करता है। यदि कोई असुविधा होती है तो वह उसे अधिक सुविधा में बदलने का प्रयत्न करता है जिससे वह दिन-प्रति-दिन उस परम स्थिति में प्रविष्ट हो सके। यदि एक या दो दिन उस स्थिति को प्राप्त करने में असफल हो जाता है तो वह उत्सुक होना प्रारम्भ कर देता है। वह सलाह लेने चिकित्सक के पास जाने लगता है—'मुझे निद्रा नहीं आ रही, कृपया मुझे निद्रा के लिए कुछ चीज दीजिए।'

यह स्थिति केवल तभी वाञ्छनीय नहीं है जब आप दुःख व कष्ट में होते हैं। यह केवल सामान्य व्यक्ति या भिक्षुक के लिए ही नहीं, अपितु राजा या सम्राट् के लिए भी उपयुक्त है। निद्रा का आकांक्षी प्रत्येक व्यक्ति होता है। उस स्थिति से प्रत्येक व्यक्ति सन्तोष व आनन्द की भावना से उद्भूत होना चाहता है। आनन्दपूर्ण प्रकृति के कारण, शान्तिपूर्ण प्रकृति के कारण, समस्त दुःख व कष्टों की अनुपस्थिति के कारण हर

कोई इस स्थिति का आनन्द लेता है। उस स्थिति में बाह्य विश्व (जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था) की समस्त नकारात्मक और अवाञ्छित अनुभूतियाँ विस्मृत हो जाती हैं। इसलिए एक नकारात्मक भाव में इस स्थिति को परमानन्द के नाम से जाना जाता है।

सुप्त व गुप्त अवस्था के इन समस्त प्रभावों व मनोवृत्तियों के साथ सम्पूर्ण आनन्द के इस कोश को आनन्दमय कोश कहा जाता है। इस आनन्दमय कोश में ही सम्पूर्ण विचार, भावना, अनुभूति और स्मृति के बीज अवस्थित रहते हैं। अपने वास्तविक सारभूत स्वभाव में आप अन्नमय कोश या प्राणमय कोश अर्थात् वनस्पतियों सहित समस्त जीवित अस्तित्व में निहित जैविक जीवनी-शक्ति मात्र नहीं हैं। न तो आप मनोमय कोश हैं, न विज्ञानमय कोश हैं और न आनन्दमय कोश ही हैं। आप पञ्चकोशों से अतीत हैं।

परम सत्ता और उसका स्वरूप

अपरिवर्तनशील, अविनाशी, शाश्वत आन्तरिक सत्ता आपकी आत्मता का गहन आयाम है। सत्य आप में ही अन्तर्निहित है। आप वास्तविक सत्ता हैं और वही आपके अस्तित्व का आध्यात्मिक आयाम है। आपके अस्तित्व का यह आध्यात्मिक आयाम ही परम वास्तविकता, जागतिक वास्तविकता, विश्वात्मा, परमात्मन्, परम सर्वशक्तिमान् आत्मा है। यह परमात्मा, अल्लाह या अहूरमज़्द या परमेश्वर के विभिन्न नाम-रूपों में अभिव्यक्त होता है और तत्त्व-वेत्ता इसे निर्वाण के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यह अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत, सर्वाङ्ग और सम्पूर्ण दिव्य परमात्मा है। इसका बोध उक्त कोशों में से किसी से भी सम्भव नहीं है। आपकी अन्तः सत्ता, मात्र आपकी आत्मा ही आत्मा का ज्ञान कर सकती है। इसको अपरोक्षानुभूति या परा-विद्या के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार का ज्ञान किसी माध्यम या विशेष इन्द्रिय-संयोग द्वारा उपलब्ध नहीं होता। यह तो मन और चेतना से परे है। यह बुद्धि से भी अतीत है। यह तो अपरोक्षानुभूति है और इसी विद्या को परा-विद्या कहा जाता है। यह विद्या आपको कष्ट, दुःख और अन्ततः बन्धन से भी मुक्त कर देगी। यह आपको अमर स्वरूप के अनुभव के योग्य बना देती है। इसी कारण यह परम विद्या है। इसी कारण यह आत्मा का विज्ञान है। यह आपसे पृथक् विज्ञान नहीं है। यह किसी विषय का विज्ञान नहीं है अपितु उसका विज्ञान है जो समस्त जगत् और समस्त वस्तुओं को अन्तर्चक्षु से देखता है। इसीलिए इसको आत्म-विद्या भी कहा जाता है। आत्मन् का अर्थ है सत्य। आत्मन् का अर्थ आत्म-ज्ञान से है। आत्मन् का अर्थ है 'मैं स्वयं।'

आप वास्तविक सत्ता के आमने-सामने आते हैं। इसलिए उनका अन्वेषण आधुनिक विज्ञान से भिन्न था। आधुनिक विज्ञान मात्र भौतिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मात्र भौतिक विश्व से है। इसके साथ ही यह विषयों का विज्ञान है। आप निसर्ग में वस्तुओं और शक्तियों का दर्शन करते हैं। आप अग्नि, जल, धरती को देखने और विभिन्न वस्तुओं के कार्यशील नियमों का दर्शन करने में समर्थ हैं। यह पदार्थों की सङ्घटना का अन्वेषण है। यह सङ्घटना किससे निर्मित हुई

है ? क्या हम उनका अनुकरण कर सकते हैं ? क्या उनका सृजन हम प्रयोगशाला में कर सकते हैं ?

आत्म-विज्ञान की दिशा आन्तरिक शोध की ओर है। इसका परम पराक्रम परम तत्त्व का बोध करना है, समस्त वस्तुओं का द्रष्टा होना है जो किसी भी वस्तु की सङ्घटना का उद्भव नहीं है और जो परम अद्वैत का सिद्धान्त है। कोई भी वस्तु जो किन्हीं वस्तुओं की सङ्घटना से जन्म लेती है, उसका 'है'-पन (सत्ता) उस सम्मिलन की समाप्ति, विघटन और विग्रह के साथ ही अवरुद्ध हो जाता है। परम सत्ता तो अखण्ड है जो न तो कोई पदार्थ है और न किसी प्रक्रिया का परिणाम ही है। यह परम ज्ञान स्वयं-प्रकाश के नाम से पुकारा जाता है और इसके स्वरूप के बारे में आप कुछ भी कह सकते हैं।

उनका कथन है कि यह अनुभवगम्य और वर्णनातीत है। आप स्वयं ही इसके ज्ञान को उपलब्ध हो सकते हैं। यह अनुभव प्रत्येक में सुप्तावस्था में है। यदि यह सब में गुप्तरूप में विद्यमान है तो फिर प्रत्येक इसको प्राप्त करने का प्रयास क्यों नहीं करता है ? ऐसा इसलिए है कि यह अनुभूति मुझ-में ही गुप्त रूप में सन्निहित है और मैं अपने से बाह्य वस्तुओं के साथ इतना व्यस्त हूँ कि मेरे पास आन्तरिक गोता लगाने के लिए, अपने केन्द्र की ओर जाने के लिए, अपनी गवेषणा करने और आत्म-जाग्रत होने के लिए अवकाश ही नहीं है। इसलिए मन में ये सुदृढ़ मनोवृत्तियाँ हैं, बहिर्मुखत्व है। यह सदैव नाम-रूप जगत् की ओर गति कर रहा है।

दूसरी बात यह है कि यह किसी विषय को पकड़ कर

कार्य नहीं कर सकता। शुद्ध अमूर्त्त चिन्तन मन के लिए व्यावहारिक असम्भवता है। इसे किसी वस्तु का रूप लेना होता है। इसे किसी वस्तुनिष्ठा से अपनी समस्त प्रक्रियाओं को उधार लेना होता है। इसलिए वस्तुनिष्टता मस्तिष्क की दूसरी सुदृढ़ वृत्ति है। तीसरी बात यह है कि यह किसी विशिष्ट वस्तु से सम्बद्ध नहीं रह सकता। यह एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की ओर गुजरता है और सतत परिवर्तित होता रहता है। यह स्थिर नहीं रह सकता। इसमें एक प्रकार का चाञ्चल्य होता है। इसमें एक प्रकार का दोलन है। यह सदैव एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में दोलायमान होता रहता है। इसे विक्षेप-शक्ति कहा जाता है।

यह अपनी वस्तु-निष्ठा के केन्द्रिय बिन्दु को सतत परिवर्तित करता रहता है। यह पदार्थों के पीछे दौड़ता है। मस्तिष्क की ये तीन सुदृढ़ वृत्तियाँ उसे सतत परिवर्तनशील व क्लान्ति की स्थिति में रखती हैं। मस्तिष्क में कोई स्थैर्य नहीं है। वहाँ कोई मौन भी नहीं है। जब वह मौन होता है तब निष्क्रियावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह गहन निद्रा की स्थिति में होता है। इसे या तो सतत सक्रिय रहना होता है, पदार्थों के चिन्तन में व्यस्त रहना होता है या फिर निद्रा-मग्न हो जाना होता है। निद्रा में वह निष्क्रिय हो जाता है। उसके पास तीसरी कोई प्रक्रिया नहीं है। उन्होंने मन का दमन करने, इसके सारे व्यवहार का अध्ययन व निरीक्षण करने के लिए एक निश्चित कला, विज्ञान व प्रविधि का विकास किया था और फिर इस तरह की प्रविधि का विकास भी किया जिससे मस्तिष्क की बहिर्मुखी वृत्ति को नियन्त्रित किया जा सके। यह प्रक्रिया अनुशासनबद्ध थी और कुछ

विशिष्ट प्रविधियों के द्वारा उन्होंने मस्तिष्क को भौतिक जगत् के बाह्य विषयों से विरत करने के प्रयास किए।

धीरे-धीरे उन्होंने मन को यह कह कर प्रशिक्षित किया : 'तुम्हारा आनन्द उन विषयों में नहीं है। तुम मूर्ख हो। तुम बिना लक्ष्य के क्यों भाग रहे हो ? तुम ऐसे पदार्थों के पीछे क्यों दौड़ रहे हो जिनसे तुम्हें कोई आनन्द उपलब्ध नहीं होगा। तुम्हारा गन्तव्य कहीं अन्यत्र है। यह सभी कुछ आत्मस्थ है। तुम खट्टे अंगूरों की ओर लपक रहे हो। आनन्द तो अन्तरतम में है। यह आत्मस्थ है। पदार्थ पर निर्भर कोई भी वस्तु वास्तविक व अमर नहीं है; क्योंकि पदार्थ स्वयं में परिवर्तनशील व नश्वर है। इसलिए अनुभूतियाँ भी उसके समान नश्वर हैं। वे तुम्हें रुदन का पात्र बनायेंगे। इसलिए पदार्थ से सम्बन्धित संवेदना व अनुभूतियों के पीछे कभी मत दौड़िए। इसलिए आत्मस्थ प्रकृति की ही शोध करिए।'

इस प्रकार इसको सुविज्ञ बनाने, इसको ज्ञान देने का प्रयत्न करने, इसको सुझाव देने का प्रयत्न करने, इसको बिवेकोन्मुख करने का प्रयास करने, पदार्थ के वास्तविक स्वरूप में प्रवेश करने और उच्च ज्ञान व प्रज्ञा के द्वारा आप क्रमिक रूप में मस्तिष्क को अन्तरोन्मुखता की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। जब मस्तिष्क अपनी सशक्त बाह्य प्रवृत्तियों से विरल होकर अन्तर की ओर गति करने लगता है, तब आपको अनुभव होगा कि आप एक प्रक्रिया में सफल हो गये हैं। लेकिन अन्तर्जगत् में एक प्रकार की विश्रामहीनता, सतत चाञ्चल्य, सतत भटकाव और व्याकुलता का जन्म भी होता है। क्यों ? क्योंकि अन्तर्मन स्मृतियों की गहनता में सतत नवीन चिन्तन, वृत्ति और कल्पनाओं में निमज्जन करता है

और इस कारण ही इच्छाएँ उसको आवृत्त करती हैं। इसलिए जब मस्तिष्क बहिर्जगत् से विमुख हो जाता है तब भी अन्तस्थल में विश्रान्तिहीनता बनी रहती है। इस बेचैनी को किसी दूसरी प्रविधि से वशवर्ती बनाया जाता है।

मन शान्त व निश्चल हो जाता है। जब यह इस स्थिति तक पहुँच जाता है तो अपनी शृङ्खला के अन्तर्गत आने वाले बाह्य पदार्थों के विषय में चिन्तन करने की अपेक्षा इसको प्रदत्त निश्चित पदार्थ के साथ यह दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध हो जाता है। यह निश्चित विचार को पकड़ लेता है। इसको निश्चित प्रत्यय इङ्गित किये जाते हैं और इस प्रत्यय पर अपने को केन्द्रित करने के लिए इसे तैयार किया जाता है। सामान्यतया यह प्रत्यय दृश्य से अतीत वास्तविक सत्ता का प्रत्यय होता है। अटूट सतत विचार-प्रवाह के रूप में इस पर अपने को केन्द्रस्थ करने के लिए मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना होता है। इस प्रकार मस्तिष्क को अन्तर्मुखी बनाया जाता है। अन्तस्थल में यह शान्ति को उपलब्ध हो जाता है। यह संग्रहीत हो जाता है। यह उस प्रत्यय पर केन्द्रित हो जाता है जो समस्त पदार्थों का उद्गम है, जो सब पदार्थों का मूल, समस्त का आधारभूत, समस्त की परितृप्ति, प्रारम्भ, मध्य और परिपूर्णता है।

इसको किसी भी नाम से उच्चारित किया जा सकता है। यह वह सत्ता है जिसकी पूजा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, अग्नि-मन्दिर और समस्त पूजा-स्थलों में की जाती है। यह वह सत्ता है जिसकी प्रशस्ति ओल्ड टेस्टामेन्ट (*Old Testament*), न्यू टेस्टामेन्ट (*New Testament*), कुरान, बाइबिल, ग्रन्थ साहब एवं गीता में वर्णित है। विश्व के समस्त

धर्म उस परम सत्ता का यशोगान समस्त स्थानों में करते हैं और आप उस परम सत्ता का अभिषेक करते हैं। अनाम होने पर भी वे इसे विभिन्न नामों से उच्चारित करते हैं। जो प्रत्यय आपकी अन्तरस्थ सत्ता का उद्गम है, जो शाश्वत है, आप उस पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। आप उसमें निवास करते हैं।

जब इसमें स्थित होने की यह प्रक्रिया प्रतिदिन गतिशील रहती है तब एक परम क्षण भी उपस्थित होता है। मस्तिष्क पूर्णतः संयुक्त होकर अन्तः प्रकृति के वशवर्ती प्रत्यय के साथ पूरी तरह विलीन हो जाता है। सतत निवास, सतत ध्यान के द्वारा मन का निरसन हो जाता है और वस्तु-सत्ता ही विद्यमान रहती है। जब चेतना यहीं और तत्काल उपस्थित समस्त सापेक्षताओं और पदार्थ के चिन्तन से पराङ्मुख हो जाती है तो वही सत्य के साक्षात्कार की स्थिति है। चेतना मात्र उस सत्ता के प्रति ही सजग रहती है जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य में विद्यमान है। तब मन का उन्मन हो जाता है। विशुद्ध चेतना ही प्रबल रहती है। यही अन्तिम अनुभूति है जो यहीं और अविलम्ब नश्वर को अमरत्व में परिवर्तित कर देती है। यही आपका गन्तव्य है।

आत्मा के इस विज्ञान को आपने भारतवर्ष की आन्तरिक सांस्कृतिक विरासत के रूप में उपलब्ध किया है। आत्मानुभव परम विज्ञान है। इसका आप में से प्रत्येक को, चाहे आप इञ्जीनियर, चिकित्सक, वकील या प्रवक्ता हैं,—बोध होना चाहिए। इसमें आपको प्रशिक्षित होना चाहिए और इसे प्राप्त करना चाहिए। यह तो एक अस्थायी उपाधि है जिससे आपने अपने को आवृत कर रखा है। नाटक-अभिनय के

मौसम में जब कोई नाटक-मण्डली तीन या चार मास के लिए किसी नाटक का अभिनय करने की योजना बनाती है तो आप पूर्व तैयारी के समय अपने पर आरोपित पात्र के रूप में कहते हैं : 'मैं राम, कृष्ण, राजा लियर, शाइलाक, हेमलेट हूँ।' इस विधि से आप अपनी वास्तविक एकरूपता, कार्यालय, गृह व गृहस्थी को विस्मृत करना प्रारम्भ करते हैं। आपका गमन इस नवीन परिवेश में होता है। इसी प्रकार आप शोधकर्त्ता हों या वनस्पति-शास्त्री, अर्थ-शास्त्री हों या रसायन-शास्त्री, प्रवक्ता, वकील या चिकित्सक जो भी हों, ये सब आपके द्वारा अस्थायी रूप में गृहीत पात्रताएँ हैं। इससे इस तथ्य को अवमानना नहीं होती कि आप इस निर्धारित जागतिक जीवन की यात्रा में एकाकी यात्री जीवात्मा हैं।

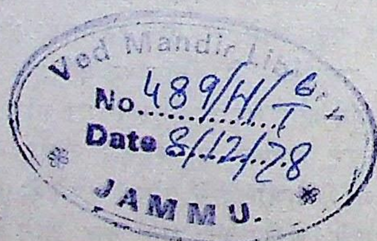
आपका आगमन एकाकी पथिक के रूप में हुआ है। जब आप इस धरती पर आते हैं तो अपने साथ कुछ नहीं लाते और जब विदा होते हैं तो साथ में कुछ नहीं ले जाते। विश्व के साथ सतत तादात्मीकरण के कारण आपको इस तथ्य का विस्मरण हो गया है कि आपका एकाकी आगमन हुआ है और आप एक ऐसी अपरिचित भूमि में निवास कर रहे हैं जो आपका वास्तविक घर नहीं है। आप एक सुदूर यात्रा पर चल पड़े हैं। आपको किसी शाश्वत व वास्तविक स्थिति का शोधन करना व उसे उपलब्ध करना है। इसलिए आप सब लोग बाह्य सतही जीवन में अपनी विभिन्न क्षमताओं के बावजूद वैयक्तिक आत्मा हैं। जीवन-यात्रा में गति करने के लिए आप कुछ प्रारब्ध-कर्मों के साथ आये हैं। अन्तिम क्षण में आपको एकाकी जाना पड़ता है।

आपको निर्भय एवं मुक्त कराने वाली, सम्पूर्ण दुःखों और कष्टों से पार ले जाने वाली इस परम सत्ता को उपलब्ध करने का पुरुषार्थ अपनी वृत्ति के साथ-साथ करना आपका कर्त्तव्य है। इसलिए आप लोगों को अपने बाह्य जीवन के साथ-साथ इस वस्तु-सत्ता की ओर अपने को प्रेरित करने का प्रयास करना चाहिए। आप में से प्रत्येक का समृद्ध आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन, ध्यान व गहन अध्ययन का जीवन होना चाहिए। आपको अपना परीक्षण करना चाहिए : 'मैं यहाँ कैसे आया हूँ।' समस्त प्रारम्भिक कार्य आपके अद्भुत पूर्व पुरुषों, अतीत के महाभागों द्वारा किया हुआ है। उन्होंने अपनी शोध व उपलब्धियों को तैयार वस्तुओं के रूप में आपको दिया है। इसलिए उनकी तरह अनावर्तन से प्रारम्भ करने का क्लेशदायी कार्य आप लोगों को नहीं करना है। प्रत्येक वस्तु यहाँ विद्यमान है। शिलान्यास व आरम्भिक कार्य उनके द्वारा पहले ही किया जा चुका है। उनके द्वारा बीज-रूप में सब कुछ आपको प्रदत्त है। आपको उसे स्वयं का बनाना है।

इसलिए स्वाध्याय करिए। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करिए। उनको समझने का प्रयत्न करिए। प्रातःकाल अपने काम पर जाने से पूर्व ध्यानस्थ होने में कुछ समय बिताइए। अन्तर्जगत् में निमज्जन करिए। माँ के गर्भाशय में आने से पूर्व आप का जो स्वरूप था और इस शरीर से पृथक् होने पर आपका जो स्वरूप होगा, उसका अनुभव कीजिए। माँ के गर्भाशय में प्रवेश करने से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आपके शरीर की राख बन जाने के बाद आपका स्वरूप क्या है ? मात्र इतनी भिन्नता है कि आप इस भौतिक

कोश में बन्दी हैं। आप वही सिद्धान्त हैं। आप वही वस्तु हैं। आपको उपलब्ध करना होगा। उस सजगता को अनुभव करने का प्रयत्न करिए। मेरा स्वरूप देहातीत, नाम-रूप रहित, जाति-सम्प्रदाय से पृथक्, धर्म व सीमित विशेषण से परे है। ये सब उपाधियाँ आप पर तब आरोपित हुई हैं, जब आप ने माँ के गर्भाशय से बाहर आकर देह धारण किया है, अन्यथा आपका कोई नाम-रूप व वैशिष्ट्य नहीं था। आपकी स्थिति विशुद्ध है। वह स्थिति सत्, चित् और आनन्द है। इसका अस्तित्व होने के कारण यह सत है। यह पाषाणवत् निर्जीव नहीं है। यह बोध युक्त है। यह चैतन्य है। इसलिए अपनी सत्ता की परम स्थिति को उपलब्ध करें। यह आत्मा का विज्ञान है। परमात्मा आप सब को अनुग्रहीत करे। आप इस परिपूर्णावस्था को प्राप्त करके इसी जीवन में जीवन्मुक्त बनें !

[क्षेत्रीय विज्ञान-परिषद् जम्मू के वैज्ञानिकों के मध्य १९७५ के प्रारम्भ में दी गई वार्त्ता।]



विश्व - प्रार्थना



हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !

तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है ।

तुम सच्चिदानन्दघन हो ।

तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो ।

तुम सबके अन्तर्वासी हो ।

हमें उदारता, समदर्शिता और मन का समत्व प्रदान करो ।

श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो ।

हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो,

जिससे हम वासनाओं का दमन कर मनोजय को प्राप्त हों ।

हम अहङ्कार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों ।

हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो ।

सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें ।

तुम्हारी अर्चना के ही रूप में इन नाम-रूपों की सेवा करें ।

सदा तुम्हारा ही स्मरण करें ।

सदा तुम्हारी ही महिमा का गायन करें ।

केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम
हमारे अधर-पुट पर हो ।

सदा हम तुममें ही निवास करें ।

योग-वेदान्त

(हिन्दी मासिक-पत्र)

संस्थापक—श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

सम्पादक—श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती

वार्षिक चन्दा : रु० ७-००

यह पत्र शिवानन्द हिन्दी-साहित्य का अनमोल रत्न है।

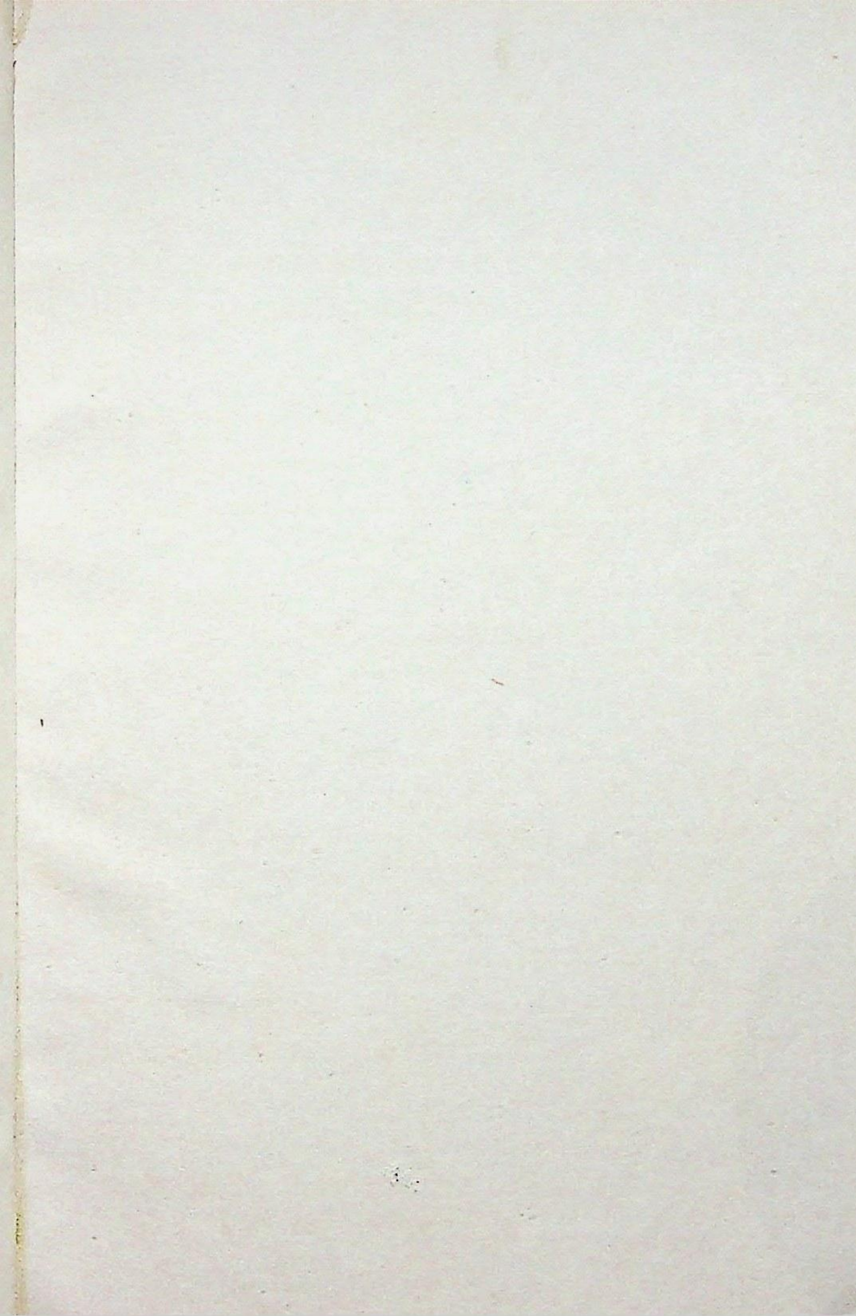
'योग वेदान्त आरण्य अकादमी' का मुख-पत्र होने से इसमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, योग और वेदान्त विषयक सुबोधगम्य सामग्री रहती है।

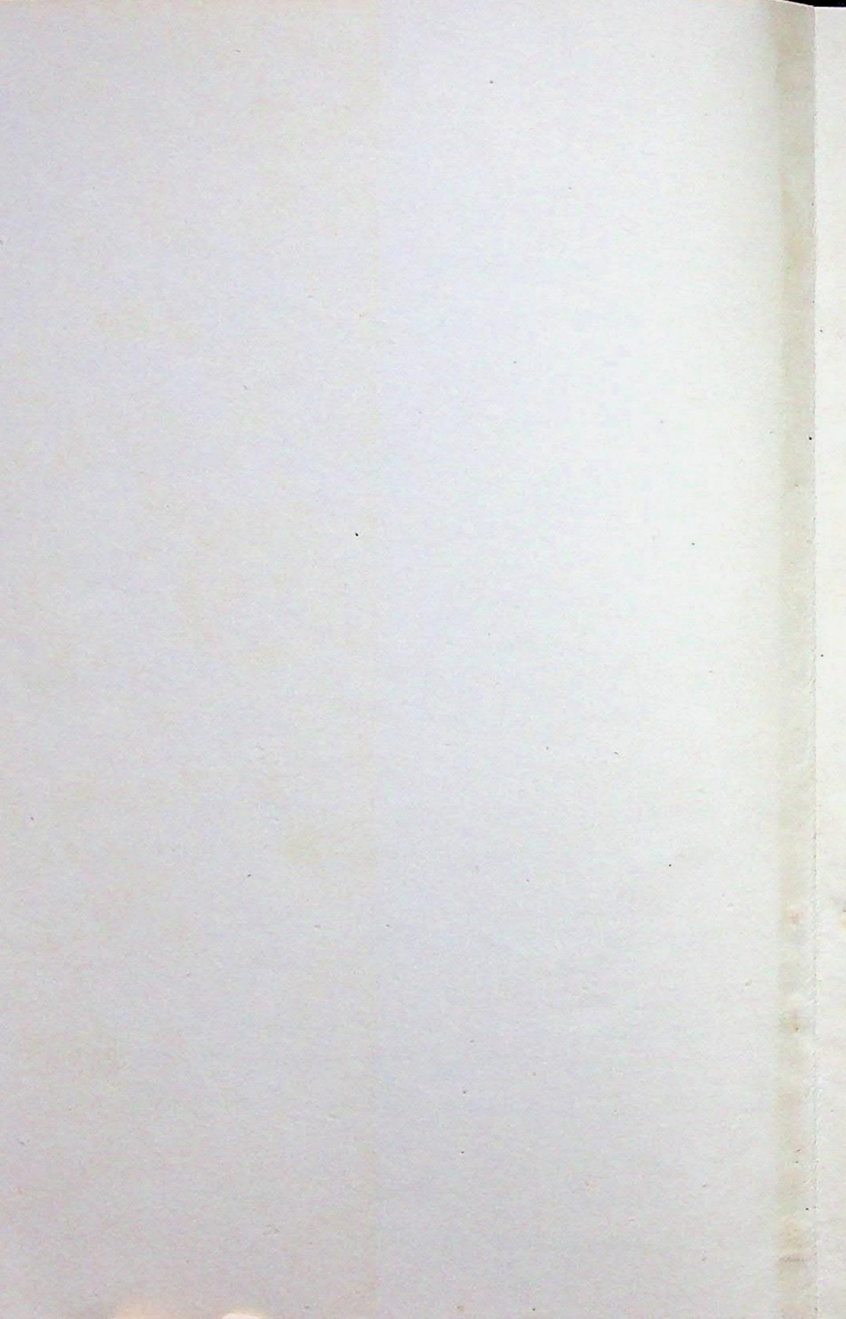
योग के जटिल अर्थ को साधारण जन-समाज में सरल रीतियों से समझाने के लिए यह उत्तम माध्यम है। अपने पवित्र विचारों को लेकर यह पत्र नवीन आध्यात्मिक युग की शङ्खध्वनि सुनाता है।

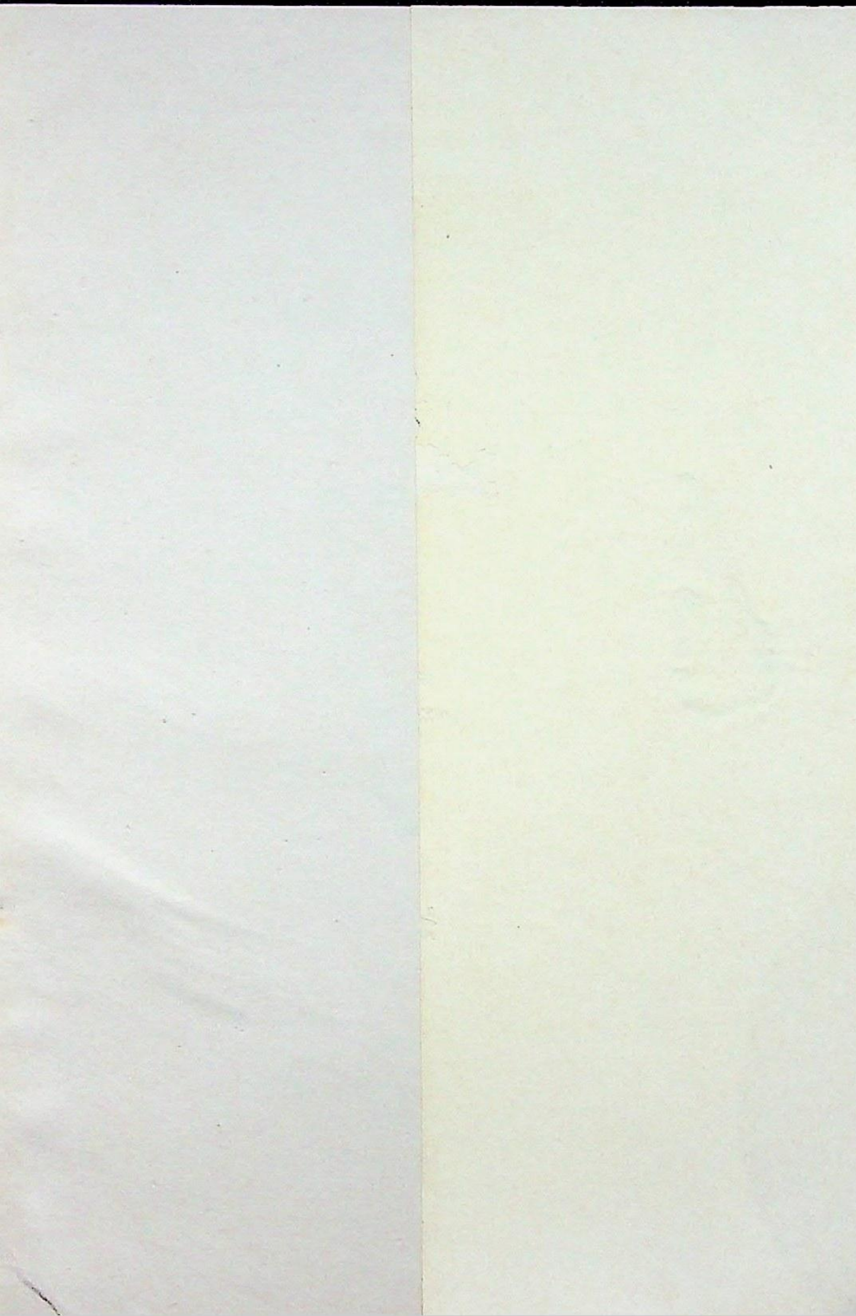
इस पत्र में सर्वसाधारण के लेखों को प्रकाशित नहीं किया जाता है; किन्तु अनुभव के आधार पर जो लेख लिखे गये हों और जिनके विचारों की पृष्ठभूमि ठोस और प्रामाणिक हो, ऐसे लेखों को ही इस पत्र में प्रकाशित किया जाता है। जीवनोपयोगी व्यावहारिक सिद्धान्त को प्रकट करने वाले लेख पत्र में अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं।

यह पत्र किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किन्तु विश्वात्म-भावना के उद्देश्य को अङ्गीकार कर, केवल उसी सिद्धान्त का हर रीति से प्रतिपादन करता है।

योग-वेदान्त,
डिवाइन लाइफ सोसायटी, पो० शिवानन्दनगर,
जिला—टिहरी-गढ़वाल (उ०प्र०)







ॐ



(फूलों की घाटी)

हमारे देश की यह परम्परा रही है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के माध्यम से हमने आध्यात्मिक चेतना को जगाने के प्रयत्न किये हैं। इसलिए योगियों, सन्तों, साधकों और भक्तों ने हिमालय को अपनी तपोभू[illegible] बनाया है। हम इस भूमि को एक दिव्य प्रदे[illegible] [illegible]झते ह[illegible]।

—स्वामी चिदानन्द

ॐ